मनोरंजन पुस्तकमाला—८

संपादक

श्यामसुंदरदास, बी० ए०

काशी नागरीप्रचारिणी सभा की ओर से

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

भीष्म पितामह

अर्थात्

कौरवश्रेष्ठ भीष्म पितामह का जीवनचरित्र और उनके
हितोपदेशों का हिंदी में सार-संग्रह

विक्रमं वृत्रहा जह्याद्धर्मं जह्याच्च धर्मराट् ।
नत्वहं सत्यमुत्स्रष्टुं व्यवस्येयं कथंचन ॥
—भीष्म ।

लेखक

चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्म्मा

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

१९३१

तीसरा संस्करण] [मूल्य १।)

विज्ञप्ति

पंडित-प्रवर श्रीयुक्त शंभूनाथजी शुक्ल, बी०, ए०, ने मुझसे कई बार भीष्म पितामह की सामग्री देने का अनुरोध किया। उनके कहने से मैंने महाभारत से कुछ सामग्री संग्रह भी की। किंतु मुझ जैसे बहुधंधी और बहुकुटुंबी मनुष्य के आरंभ किए हुए कामों का पूरा होना केवल ईश्वर के अनुग्रह पर ही निर्भर है। नहीं तो न तो मुझमें इतनी योग्यता है कि मैं ऐसे बहु-ज्ञान-सापेक्ष कार्य्यों में हाथ डालूँ और न मेरे पास इतना समय ही है कि मैं अपने ज्ञान-भांडार की उत्तरोत्तर वृद्धि करता रहूँ। तथापि जो कुछ भला-बुरा मुझसे बन पड़ता है, वह केवल ईश्वर की प्रेरणा और सन्मित्रों के उत्साह-प्रदान का फल-स्वरूप है। मेरा इसमें तिल भर भी पुरुषार्थ नहीं है।

इसमें अणुमात्र भी संदेह नहीं कि भीष्म जैसे सत्यप्रतिज्ञ, दृढ़व्रत, आजन्म-ब्रह्मचारी, स्वार्थत्यागी, नीति-विशारद एवं गुणग्राही आदर्श पुरुष का आलोचना-पूर्ण चरित यदि किसी विद्वान् की लेखनी से लिखा जाता, तो इस चरित से कहीं चढ़-बढ़कर होता और उससे लाभ भी विशेष होने की संभावना थी, किंतु जो विद्वान् हैं वे या तो आलस्य-वश अथवा अन्य किसी कारण-विशेष से इस ओर ध्यान नहीं देते। साथ ही इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि भीष्म जैसे आदर्श

महानुभाव का उपदेशपूर्ण चरित, हिंदी पढ़नेवालों के सामने उपस्थित किया जाय। अतः यह टूटा-फूटा भीष्म का जीवन-चरित और उनके बहुमूल्य उपदेशों का संक्षिप्त संग्रह मैं हिंदी-साहित्य-सेवियों के सामने उपस्थित करता हूँ। इसमें जो त्रुटियाँ हैं, वे मेरी अज्ञानता और अल्पज्ञता के कारण हुई हैं और जो कुछ उत्तमता है वह पितामह भीष्म के आदर्श-चरित का प्रसाद है।

आजकल के क्षीणबल, क्षीणकाम एवं क्षीणवीर्य नवयुवक यदि इस चरित को पढ़कर अपनी शारीरिक एवं मानसिक दशा सुधार सकें और अपनी उन्नति कर सकें तो मैं समझूँगा कि मेरा परिश्रम करना सार्थक हुआ।

इस पुस्तक के अंतिम भाग में भीष्म पितामह के उपदेशों का संक्षिप्त रूप से संग्रह मूल पुस्तक से किया गया है और चरित श्रीयुत रजनीकांत गुप्त की "भीष्मचरित" नामक बँगला पुस्तक के आधार पर लिखा गया है।

दारागंज—प्रयाग
पौष शुक्ला ११ सं० १९६९

चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा।

सूची

भीष्म पितामह

पहला अध्याय

भीषण प्रतिज्ञा

सुप्रसिद्ध कुरुवंश में शांतनु नामक एक राजा हो गए हैं, वे परम धार्मिक और बड़े बुद्धिमान् थे। उनके समय में उनके समान सर्व-गुण-संपन्न और संपत्तिशाली भूपति दूसरा न था। महाराज शांतनु हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर बैठकर न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करते थे। उनके सुशासन में उनके राज्य के अंतर्गत नगरों और जनपदों की अच्छी उन्नति हुई थी। उनके राज्य भर में साधुओं का सम्मान होता था और उनकी सारी प्रजा सब प्रकार से सुखी थी। उनके राज्य में एक भी ऐसा मनुष्य न था जो सदाचारी न हो और जिसकी प्रवृत्ति सत्कार्य्यों में न हो। इसी से उनके राज्य में कभी कोई उपद्रव नहीं होता था और राज्य भर में सुख-शांति विराजती थी।

महाराज शांतनु सुख-पूर्ण, समृद्धि-पूर्ण और शांति-पूर्ण राज्य के अधिपति होकर, विशुद्ध मन से धर्म्मानुष्ठान किया करते थे।

इन्हीं महाराज शांतनु के देवव्रत नामक एक पुत्र था। राजकुमार का प्रशस्त ललाट, विशाल वक्षःस्थल, सुगठित बाहु और पुष्ट शरीर देख पुरवासी बड़े प्रसन्न होते थे। राजकुमार की शिक्षा दीक्षा की ओर महाराज ने पूरा ध्यान दिया था, और अच्छे शिक्षकों द्वारा कुमार को शिक्षा दिलाई थी, अतः कुमार की गणना सुपंडितों में थी और ऐसा कोई भी शास्त्र न था जिसका कठिन से कठिन स्थल राजकुमार न लगा सकते हों। सारांश यह कि राजकुमार की सब शास्त्रों में अच्छी गति थी। उनकी जैसी असाधारण बुद्धि, अप्रमेय शक्ति और अविचलित अध्यवसाय था, उसी के अनुसार उन्होंने वेद और वेदांत सहित धनुर्वेद में भी पारदर्शिता प्राप्त कर ली थी। क्या शास्त्र-ज्ञान, क्या शस्त्र-प्रयोग, क्या विचार-क्षमता, कुमार देवव्रत सब विषयों में अपने पिता से बढ़ गए थे।

ऐसे सुपंडित सुपुत्र को देखकर महाराज शांतनु फूले अंग नहीं समाते थे। राजकुमार जब युवा हुए तब महाराज ने नगर के नेताओं को एकत्र कर उनके सामने राजकुमार को युवराज के पद पर अभिषिक्त किया। युवराज सद्व्यवहार और सत्कार्यों से प्रजा के प्रीति-पात्र एवं विश्वास-भाजन बन गए। वे अलौकिक पितृभक्त थे और उनका प्रजा पर असाधारण

अनुराग था। वे सदा प्रजा-हितकर कार्यों में लगे रहते थे, अपने से बड़ों का सदा आदर करते थे और बराबरवालों के साथ सज्जनों जैसा बर्त्ताव कर उन्हें संतुष्ट रक्खा करते थे। युवराज होने पर भी उनका ध्यान अपने शारीरिक सुख भोग की ओर न था। उनमें इतनी क्षमता थी कि वे चाहते तो लोगों के साथ कठोर व्यवहार कर सकते थे, किंतु नहीं, उनके प्रत्येक कार्य में स्नेह और दया की मात्रा अधिक परिमाण में पाई जाती थी। साथ ही वे इतने नम्र भी न थे, जिससे उनके शत्रु उनकी ऐसी अच्छी प्रकृति से स्वयं लाभ उठावें। शत्रु तो उनकी तेजस्विता को देख बहुत भयभीत हुआ करते थे। सारांश यह कि युवराज देवव्रत में ऐसे विरोधी गुणों का समावेश देख पुरवासी और अन्य लोग विस्मित होते थे। दीनों के बंधु और विपन्नों के सहायक देवव्रत को धर्माचरण और सदाचार का अनन्य भक्त देख लोगों की उनमें उत्तरोत्तर श्रद्धा बढ़ती जाती। महाराज प्रजा के लोगों से पुत्र की प्रशंसा सुन अपने को यथार्थ पुत्रवान् समझ मन ही मन बहुत प्रसन्न होते एवं अपना भाग्य सराहते थे। ऐसे सुयोग्य पुत्र के होते उनको राज-काज भी अब पहले से कम देखना भालना पड़ता था। उन्होंने सारा राज-काज पुत्र को सौंप दिया था और वे निश्चिंत हो समय बिताते थे।

इस प्रकार चार वर्ष बीत गए। एक दिन महाराज शांतनु यमुनातट वर्ती एक वन में घूम फिर रहे थे कि इतने में

सारे वन में सुगंधि फैल गई। जिस सुगंधि ने उस वनस्थली को सौरभमय कर दिया वह कहाँ से आ रही है, यह जानने के लिये वे वन में इधर उधर घूमने लगे। कुछ ही देर बाद देवांगनाओं के समान रूप-लावण्य-शालिनी एक नारी उन्हें दीख पड़ी। यह सुगंधि उसी के शरीर की थी जो पवन में मिलकर उस वन को सुवासित कर रही थी। शांतनु उस कामिनी को उस विजन वन में देख विस्मित हुए और उन्होंने उससे पूछा—

शांतनु—भद्रे! तुम कौन हो? तुम किसकी रमणी हो और इस निर्जन वन में अकेली क्यों घूम रही हो?

रमणी—महाराज! मैं एक धीवर की कन्या हूँ। महात्मा दासराज मेरा पिता है। पिता के आज्ञानुसार मैं यमुना में नाव खेती हूँ।

उस रमणी के मुख से उसका पूरा परिचय पाकर, महाराज दासराज के पास गए और उन्होंने उसके सामने उसकी कन्या के साथ अपना विवाह करने की इच्छा प्रकट की।

महाराज शांतनु का अभिप्राय जानकर दासराज कहने लगा—

दासराज—महाराज! आपका शुभ जन्म भुवन-विख्यात कुरु-कुल में हुआ है। इस धन-सम्पत्ति-पूर्ण विपुल राज्य के आप अकेले ही अधिपति हैं। आपकी बराबरी का शास्त्र-विशारद, शस्त्र-विद्या में दक्ष नरपति दूसरा नहीं है, बल्कि

अन्य राजन्यवर्ग तो आपके आज्ञानुवर्त्ती होकर राज्य कर रहे हैं। आपमें जैसी अतुल क्षमता और असामान्य तेजस्विता है वैसी ही आपकी सौंदर्यमयी आकृति और मन को प्रसन्न करनेवाली शरीर की गठन है। आप जैसा सत्पात्र मिलना असंभव है। मेरा यह कर्त्तव्य है कि मैं अपनी कन्या को किसी सत्पात्र को सौंपूँ। किंतु मेरी एक प्रार्थना है। मैं अपनी कन्या सत्यवती का विवाह आपके साथ कर तो दूँ, परंतु पहले आपको मेरी एक प्रार्थना अंगीकार करनी पड़ेगी।

शांतनु—दासराज! जब तक मैं यह न सुन लूँ कि आप क्या चाहते हैं, तब तक मैं किसी काम के करने न करने के बारे में क्योंकर अपनी इच्छा अथवा अनिच्छा प्रकट कर सकता हूँ?

दासराज—मेरी अभिलाषा यह है कि इस कन्या के गर्भ-जात संतान को आप अपना उत्तराधिकारी बनावें। यदि आप मेरी यह अभिलाषा पूरी करने का वचन दें तो मैं सत्यवती का विवाह आपके साथ करने के लिये अभी प्रस्तुत हूँ।

दासराज की बात सुनकर महाराज क्षुब्ध हुए। सारी प्रजा एक स्वर से जिसकी निरंतर प्रशंसा किया करती है, धर्मपरायण मनस्वीगण जिसके शास्त्रज्ञान और सत्कार्यों की मुक्त कंठ से बड़ाई किया करते हैं, जिसकी वीरकीर्त्ति संसार भर में व्याप्त हो रही है, शांतनु उसी प्राणाधिक देवव्रत

को किस प्रकार राज्याधिकार से वंचित करें। अतः दासराज की प्रार्थना महाराज ने अस्वीकृत की और वे राजधानी को लौट आए।

युवराज देवव्रत को छोड़ महाराज शांतनु के दूसरा पुत्र न था। कुल की स्थिति के लिये और एक पुत्र हो, इसी विचार से महाराज ने दूसरा विवाह करने का संकल्प किया था। किंतु इस संकल्प मे विघ्न उपस्थित होते देख वे वहाँ से घर लौट तो आए, किंतु तब से मन ही मन वे सदा चिंतित और व्यथित रहने लगे। उनके मुखमंडल पर पहले जैसी न तो प्रफुल्लता ही रही और न उनके नेत्रों में प्रभा ही दीख पड़ने लगी। पिता को इस प्रकार सदा चिंताकुल और उदास रहते देख पितृभक्त देवव्रत को बड़ा दुःख हुआ। वे एक दिन पिता के पास एकांत मे गए और उन्होंने अति विनयावनत होकर उनके चरणों में मस्तक रखकर पूछा—

देवव्रत—तात ! राज्य में कहीं भी किसी प्रकार के अमंगल के लक्षण नहीं दीखते, सारा राज्य पूर्ववत् आपके चरणों के अधीन है, प्रजा सानंद समय यापन करती है, चारों ओर सुख शांति विराजमान है। तथापि आप चिंताकुल और विषादग्रस्त दीख पड़ते हैं ! इसका कारण क्या है ? जिस प्रकार आप पहले स्नेह से मुझसे बातचीत करते थे, उस प्रकार अब न तो आप मुझसे बातचीत करते हैं और न पूर्ववत् घोड़े पर चढ़कर घूमने फिरने जाते हैं। आपका

शरीर दिनों दिन कृश होता जाता है और आप पीले पड़ते जाते हैं। आपके शरीर में क्या कोई रोग उत्पन्न हो गया है? यदि ऐसा हुआ हो तो आज्ञा कीजिए, मैं उसकी उपयुक्त चिकित्सा का यथोचित प्रबंध करूँ।

शांतनु—वत्स! मेरे वंश के तुम्हीं एकमात्र अवलंब हो। तुम अस्त्र-प्रयोग में सुदक्ष और सर्व-शास्त्र-विशारद भी हो गए हो। किंतु इस विनाशी संसार में कोई भी वस्तु अविनाशी नहीं है। मैं मनुष्य की अनित्यता को स्मरण कर दुखी रहा करता हूँ। यदि किसी समय तुम्हारा कोई अनिष्ट हो तो हमारा यह पवित्र कुल निर्मूल हो जायगा। नीतिवेत्ताओं ने कहा है कि जिसके एक पुत्र है, उसकी गणना अपुत्रकों ही में होनी उचित है। मैं सदा भगवान् से तुम्हारे मंगल के लिये प्रार्थना किया करता हूँ। तुम सदा शूरता दिखाने में तत्पर रहते हो। तुम्हारा जैसा पराक्रम है, जैसे तुम शस्त्र चलाने में दक्ष हो, जैसे तुम तेजस्वी हो, वैसे लोगों की रणस्थल में मारे जाने की सदा संभावना रहती है। ईश्वर न करे कि ऐसा हो, परंतु यदि कहीं ऐसा हुआ, तो इस कुल की क्या गति होगी? वत्स! तुम मेरे प्राण हो। मैं तुम्हारे निमित्त ही सदा चिंतित रहता हूँ। मेरे मन की चिंता किसी प्रकार नहीं मिटती। मन पर सदा विषादमयी कालिमा छाई रहती है। एक क्षण के लिये भी मन शांत नहीं रहता।

पिता की बातें सुनकर देवव्रत कुछ क्षणों तक सिर नीचे किए हुए कुछ सोचते रहे, अनंतर परम हितैषी मंत्री के पास गए और उन्होंने समस्त हाल उनसे कहा। मंत्री ने देवव्रत को उदास देखकर कहा—

मंत्री—युवराज! महाराज की इच्छा है कि आपके दो तीन भाई और हों। इस अभिप्राय से महाराज दासराज की सत्यवती नाम्नी कन्या के साथ विवाह करना चाहते हैं किंतु इस कार्य के करने में आपका उन्हें पूरा ध्यान है।

कौरवश्रेष्ठ देवव्रत वृद्ध मंत्री के मुख से पिता का अभीष्ट जानकर, तदनुसार कार्य करने का यत्न करने लगे। मनसा, वाचा, कर्मणा पिता की आज्ञा पालन करना ही वे अपना परम धर्म समझते थे। पितृदेव दुखी रहकर समय बितावें, सदा उदास बने रहें, यह बात पितृभक्त देवव्रत शरीर में प्राण रहते कभी नहीं सह सकते थे। अतः तुरंत ही वे बूढ़े क्षत्रियों को अपने साथ लेकर दासराज के पास गए और पिता के लिये उन्होंने उससे उसकी कन्या माँगी।

दासराज ने देवव्रत और उनके साथियों का बड़ा आदर सत्कार किया और बैठने को आसन दिए। जब देवव्रत और उनके साथी सुखपूर्वक बैठ गए तब दासराज कहने लगा—

दासराज—युवराज! आप महाराज शांतनु के कुल-प्रदीप हैं। आपके समान सर्व-गुण-संपन्न पुत्र दूसरा नहीं दीख पड़ता। आप स्वयं विचारें कि ऐसा उत्तम संबंध छोड़कर

कौन पश्चात्ताप न करेगा ? मैं तो मैं, देवराज इंद्र भी ऐसा उत्तम संबंध कभी नहीं छोड़ेंगे। अतएव कन्या के मंगल के लिये आपसे एक बात कहता हूँ, उसे आप सुनें। इस संबंध के होने पर आपके साथ शत्रुता बँध जायगी। आप जैसे पराक्रमी और तेजस्वी के रहते, यदि कोई कितना ही बड़ा बलवान् क्यों न हो वह बहुत दिनों तक जीवित नहीं रह सकता। सारांश यह कि आपके क्रुद्ध होने पर किसी का निस्तार नहीं। इसमें यही एक बड़ा भारी दोष दीख पड़ता है।

देवव्रत झट दासराज का अभिप्राय समझ गए। वे जब अपने पिता को प्रसन्न रखने के लिये प्राण तक देने को प्रस्तुत थे तब उनके लिये यह कौन बड़ी बात थी। अतः दासराज के कठोर वचन सुनकर भी उनके मन में तिल भर भी विकार उत्पन्न न हुआ। पितृभक्त देवव्रत ने असामान्य स्वार्थत्याग का परिचय दिया। भक्ति और श्रद्धा ने उनके मन से स्वार्थ और विषय-वासना को मार भगाया। साथ आए हुए बूढ़े क्षत्रियों के सामने देवव्रत ने दासराज से कहा—

देवव्रत—हे सौम्य ! मेरी सत्य प्रतिज्ञा को सुनो। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि पिता की सारी संपत्ति का अधिकारी सत्यवती के गर्भ से उत्पन्न बालक होगा। मैं उसी को कुरुराज्य का अधिपति मानूँगा।

दासराज—सत्यव्रत ! आप पिता का पक्ष लेकर आए हैं, इसी से आपसे कहना पड़ता है। आप सोच विचार कर

पिता की बातें सुनकर देवव्रत कुछ क्षणों तक सिर नीचे किए हुए कुछ सोचते रहे, अनंतर परम हितैषी मंत्री के पास गए और उन्होंने समस्त हाल उनसे कहा। मंत्री ने देवव्रत को उदास देखकर कहा—

मंत्री—युवराज ! महाराज की इच्छा है कि आपके दो तीन भाई और हों। इस अभिप्राय से महाराज दासराज की सत्यवती नाम्नी कन्या के साथ विवाह करना चाहते हैं किंतु इस कार्य के करने में आपका उन्हें पूरा ध्यान है।

कौरवश्रेष्ठ देवव्रत वृद्ध मंत्री के मुख से पिता का अभीष्ट जानकर, तदनुसार कार्य करने का यत्न करने लगे। मनसा, वाचा, कर्मणा पिता की आज्ञा पालन करना ही वे अपना परम धर्म समझते थे। पितृदेव दुखी रहकर समय बितावें, सदा उदास बने रहें, यह बात पितृभक्त देवव्रत शरीर में प्राण रहते कभी नहीं सह सकते थे। अतः तुरंत ही वे बूढ़े क्षत्रियों को अपने साथ लेकर दासराज के पास गए और पिता के लिये उन्होंने उससे उसकी कन्या माँगी।

दासराज ने देवव्रत और उनके साथियों का बड़ा आदर सत्कार किया और बैठने को आसन दिए। जब देवव्रत और उनके साथी सुखपूर्वक बैठ गए तब दासराज कहने लगा—

दासराज—युवराज ! आप महाराज शांतनु के कुल-प्रदीप हैं। आपके समान सर्व-गुण-संपन्न पुत्र दूसरा नहीं दीख पड़ता। आप स्वयं विचारें कि ऐसा उत्तम संबंध छोड़कर

कौन पश्चात्ताप न करेगा ? मैं तो मैं, देवराज इंद्र भी ऐसा उत्तम संबंध कभी नहीं छोड़ेंगे। अतएव कन्या के मंगल के लिये आपसे एक बात कहता हूँ, उसे आप सुनें। इस संबंध के होने पर आपके साथ शत्रुता बँध जायगी। आप जैसे पराक्रमी और तेजस्वी के रहते, यदि कोई कितना ही बड़ा बलवान् क्यों न हो वह बहुत दिनों तक जीवित नहीं रह सकता। सारांश यह कि आपके क्रुद्ध होने पर किसी का निस्तार नहीं। इसमें यही एक बड़ा भारी दोष दीख पड़ता है।

देवव्रत झट दासराज का अभिप्राय समझ गए। वे जब अपने पिता को प्रसन्न रखने के लिये प्राण तक देने को प्रस्तुत थे तब उनके लिये यह कौन बड़ी बात थी। अतः दासराज के कठोर वचन सुनकर भी उनके मन में तिल भर भी विकार उत्पन्न न हुआ। पितृभक्त देवव्रत ने असामान्य स्वार्थत्याग का परिचय दिया। भक्ति और श्रद्धा ने उनके मन से स्वार्थ और विषय-वासना को मार भगाया। साथ आए हुए बूढ़े क्षत्रियों के सामने देवव्रत ने दासराज से कहा—

देवव्रत—हे सौम्य ! मेरी सत्य प्रतिज्ञा को सुनो। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि पिता की सारी संपत्ति का अधिकारी सत्यवती के गर्भ से उत्पन्न बालक होगा। मैं उसी को कुरुराज्य का अधिपति मानूँगा।

दासराज—सत्यव्रत ! आप पिता का पक्ष लेकर आए हैं, इसी से आपसे कहना पड़ता है। आप सोच विचार कर

उत्तर दें। संतान पर पिता का जो वात्सल्य होता है, उसी की प्रेरणा से मुझे कहना पड़ता है। सत्यवादिन्! आपने सत्यवती के लिये जो प्रतिज्ञा की है वह आप ही के योग्य है। आप जैसे महानुभाव और जैसे सत्यव्रत हैं उससे निश्चय है कि आपका कथन कभी अन्यथा नहीं हो सकता। इसमें मुझे तिल भर भी संदेह नहीं। किंतु आपके पुत्र आपकी प्रतिज्ञा का ध्यान रक्खेंगे, इसमें मुझे पूरा संदेह है।

यह सुन मनस्वी देवव्रत ने पहले की तरह स्थिर भाव से और गंभीर होकर दासराज को संबोधन करते हुए कहा—

देवव्रत—संभव है मेरे पुत्र पैतृक राज्य-प्राप्ति के लिये आपके दौहित्रों से झगड़ा करें, इसलिये इन शास्त्रदर्शी क्षत्रियों को साक्षी करके मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि जन्म भर मैं दुष्कर ब्रह्मचर्य धारण करूँगा। पिता ही परम गुरु, पिता ही परम धर्म और पिता ही परम तपस्या हैं। पिता के प्रसन्न होने से सब देवता प्रसन्न होते हैं। पिता के प्रसन्नतार्थ मैं इस कठोर प्रतिज्ञा-पाश में अपने को जकड़ता हूँ। मेरे अपुत्रक होने पर भी इससे मुझे अक्षय्य स्वर्ग लाभ होगा। पृथिवी चाहे भले ही प्रलय-पयोधरों के जल से डूब जाय, यह विचित्र भूमंडल भले ही पल भर में विलुप्त हो जाय, अधिक तो क्या अमर-वास-भूमि स्वर्ग भले ही ऊपर से टूटकर नीचे आ गिरे पर मेरी प्रतिज्ञा भंग नहीं होने की।

दासराज देवव्रत की इस प्रतिज्ञा को सुनकर बड़ा विस्मित हुआ और प्रसन्न होकर कन्यादान के लिये राजी हो गया। उपस्थित क्षत्रियगण देवव्रत के लोकातीत स्वार्थत्याग और पितृभक्ति की पराकाष्ठा देखकर अत्यंत विस्मित हुए। जिस जिसने देवव्रत की इस प्रतिज्ञा का वृत्तांत सुना, वह अत्यंत प्रसन्न हो उनकी प्रशंसा करने लगा। ऐसी भीषण प्रतिज्ञा करने के कारण ही युवराज देवव्रत भीष्म नाम से प्रसिद्ध हुए।

जब दासराज कन्यादान के लिये राजी हो गया तब देवव्रत ने सत्यवती से कहा—

देवव्रत—माता! रथ तैयार है, सवार हो और घर चलो।

यह सुन सत्यवती रथ में बैठ गई। देवव्रत सत्यवती को साथ लेकर पिता के पास गए और उन्होंने बड़ी नम्रता से सारा हाल कहा। उधर वे वृद्ध क्षत्रिय भी जो देवव्रत के साथ गए थे हस्तिनापुर में पहुँचे और ऐसा दुष्कर कार्य करने के अर्थ राजकुमार की वे बारंबार प्रशंसा करने लगे।

हम ऊपर कह चुके हैं कि देवव्रत का भीष्म नाम इसी लिये पड़ा था कि उन्होंने बड़ी भीषण प्रतिज्ञा की थी। तब से लोग उनको देवव्रत न कहकर भीष्म ही कहने लगे। महाराज शांतनु ने अपने तनय की असाधारण क्षमता और दुःसाध्य कार्य करने में उसका अपूर्व अध्यवसाय देख परम संतुष्ट होकर यह वर दिया—

शांतनु—बेटा ! तुम्हारी इच्छा-मृत्यु होगी।

पितृभक्त देवव्रत इस प्रकार अपने पूज्य श्रद्धेय पिता को प्रसन्न कर भीष्म नाम से प्रसिद्ध हुए ।

देवव्रत ! तुम सा पितृभक्त पुत्र, तुम सी निःस्वार्थ संतान, इस संसार में अब कहाँ मिलेगी जिसने अपने पिता की प्रसन्नता मात्र के लिये राजपाट को तृणवत् त्याग दिया और भविष्य में अपनी संतति के कारण किसी प्रकार उपद्रव न मचे इसलिये आजन्म दृढ़ ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने का संकल्प किया। ऐसा महानुभाव भारतवर्ष क्या संसार के इतिहास में दूसरा न मिलेगा।

दूसरा अध्याय

चित्रांगद और विचित्रवीर्य

विधिपूर्वक महाराज शांतनु से सत्यवती का पाणिग्रहण हुआ। अमित पराक्रमी, भक्तिमान् भीष्म के निमित्त उनके मन में जो मनोवेदना उत्पन्न हो गई थी वह शांत हुई। शांति-शील शांतनु, सत्यवती के साथ रहकर, आनंदपूर्वक समय व्यतीत करने लगे। महामति भीष्म अनन्यकर्मा होकर उन दोनों की सेवा-शुश्रूषा में लगे रहते थे। पिता को प्रसन्न रखने का उनको जितना आग्रह था उतना ही आग्रह उन्हें माता को संतुष्ट रखने का था। सत्यवती भी भीष्म के सदा-चरण से बहुत प्रसन्न रहती थी।

कालक्रम से सत्यवती के गर्भ से एक परम सुंदर कुमार जन्मा। पुत्र का मुख देखकर शांतनु के आनंद की सीमा न रही। राज्य भर में घर घर आनंद मनाया गया। कुरुराज ने नवजात बालक का नाम चित्रांगद रक्खा। चित्रांगद भीष्म की देख रेख में रहकर धीरे धीरे अनेक शास्त्रों का ज्ञाता हो गया। अनंतर, पवित्र मृगचर्म ओढ़ और धनुष बाण लेकर चित्रांगद शस्त्र-विद्या का अभ्यास करने लगा। शस्त्र-विद्या में

भी राजकुमार परम प्रवीण हो गया। शांतनु छोटे राजकुमार की बुद्धि एवं शस्त्र चलाने में निपुणता देख बहुत प्रसन्न हुए।

कुछ वर्षों बाद सत्यवती के एक और पुत्र हुआ। उसका नाम विचित्रवीर्य रक्खा गया। विचित्रवीर्य छोटा ही था कि इतने में महाराज शांतनु ने देह त्याग दी। भीष्म को पिता के वियोग से बड़ा भारी दुःख हुआ। पितृभक्ति से भीष्म का हृदय परिपूर्ण था। पिता की सेवा करने में उन्हें बड़ी प्रसन्नता प्राप्त होती थी। जब उनके पिता उनके किसी कार्य से प्रसन्न होते तब वे अपने को कृतकृत्य मानते थे। पिता को प्रसन्न देख वे भूलोक में रहकर भी अपने को स्वर्ग में रहनेवालों के समान सुखी समझते थे। इस प्रकार परम देवता और परम भक्ति के पात्र पिता के लोकांतरवास से भीष्म के मन पर बड़ी चोट लगी। यद्यपि भीष्म बड़े तेजस्वी थे, वीर थे और उनमें असाधारण क्षमता भी थी, तथापि वे तरंग-माला-परिवृत जलधि पर बिना पोत के मनुष्य की तरह अपने को निःसहाय और निरवलंब समझने लगे। भीष्म को पितृ-वियोग के कारण मर्मभेदी शोक हुआ किंतु वे कर्त्तव्य-पथ से विचलित न हुए। उन्होंने दुःसह शोकवेग को रोककर पिता के और्ध्व-दैहिक सारे कर्म मन लगाकर यथाविधि किए।

अनंतर भीष्म ने सत्यवती से कहा—

भीष्म—माता! चित्रांगद अब सब प्रकार से योग्य हो गए हैं, जैसे वे बुद्धिमान् हैं वैसे ही पराक्रमी भी हैं। इतने

विशाल राज्य का शासन और प्रजा का पालन करने की उनमें क्षमता है। यदि आप आज्ञा दें तो पुरवासियों और जनपद-वासियों के सम्मुख मैं उन्हें राज्याभिषिक्त करूँ।

इस कार्य के करने की सत्यवती ने भीष्म को अनुमति दी। सत्यवती की आज्ञा पाकर भीष्म ने चित्रांगद से कहा—

भीष्म—वत्स! पितृदेव स्वर्ग सिधारे। अब तुम ही इस विस्तृत राज्य के न्यायानुसार अधिपति हो। शास्त्रों के अनु-शीलन से तुम्हारा मन तुम्हारे वश में हो गया है, शस्त्र-विद्या में भी तुमने अच्छी योग्यता संपादित कर ली है। तुम्हें राजनीति का अच्छा ज्ञान है। अतः अब तुम न्यायपूर्वक अप्रमत्त चित्त से प्रजा का पालन करो, क्योंकि मैं प्रतिज्ञा कर चुका हूँ कि जन्म भर कभी न तो राज्य करूँगा और न राजदंड धारण करूँगा। अतएव वत्स! तुम राजसिंहासन पर बैठो और राजकाज सम्हालो। समरक्षेत्र में पराक्रम दिखाना और सर्वांतःकरण से प्रजा को प्रसन्न रखना हम लोगों का कुलोचित धर्म है। तुम सदा इस धर्म का पालन करना, निरन्न को अन्न, निराश्रय को आश्रय और निस्संबल को अर्थ देना, देव और ब्राह्मणों में सदा श्रद्धा, भक्ति रखना। अपने से बड़ों का यथो-चित सम्मान करना और प्रजा के लोगों को अपना पुत्र समझ सदा उनको संतुष्ट रखने के प्रयत्न में लगे रहना। तुम जैसे तेजस्वी हो वैसे ही तुम्हारा हृदय कोमल भी है। अतः तेजस्विता और कोमलता का समय देखकर प्रयोग करना, जिसमें शत्रुगण

रणस्थल में तुम्हारी प्रदीप्त तेजस्विता को देख डरें और प्रजा के लोग तुम्हारी उदारता, प्रशांत प्रकृति और सदय व्यवहार से तुम पर सदा प्रसन्न रहें। उन्हें जीतने की इच्छा रखनेवाले अपने प्रतिद्वंद्वी के सामने मध्याह्न के सूर्य जैसी तेजस्विता दिखलाओ किंतु आश्रित लोगों के सामने सौम्यदर्शन चंद्रमा की तरह कोमल हृदय का परिचय दो।

इस प्रकार उपदेश देकर भीष्म ने चित्रांगद का राज्याभिषेक किया। चित्रांगद ने राज-सिंहासन पर बैठकर शत्रुओं को पराजित करने का संकल्प किया। समरक्षेत्र में शत्रुओं को मारना और वीरता दिखाना चित्रांगद का प्रधान कर्त्तव्य था। अनेक राजाओं ने डरकर चित्रांगद को आ सिर नवाया। चित्रांगद नामक एक गंधर्वराज थे। वे अपनी सेना समेत आए और उन्होंने कुरुराज चित्रांगद को युद्ध के लिये निमंत्रण दिया। कुरुक्षेत्र में पवित्रसलिला सरस्वती के तट पर दोनों दलों में तुमुल संग्राम हुआ और इस संग्राम में कुरुराज चित्रांगद मारे गए।

चित्रांगद के मारे जाने का संवाद सुनकर भीष्म को बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने सत्यवती के इच्छानुसार विचित्रवीर्य को गद्दी पर बिठाया। किंतु विचित्रवीर्य की अवस्था अभी छोटी थी, अतः भीष्म ही उसका सारा काम-काज करने लगे। इस समय कौरवों के वे ही अवलंब थे। विचित्रवीर्य भीष्म का बड़ा आदर करता था। जब तक वह स्वयं काम

चलाने योग्य न हुआ तब तक सब काम-काज वह भीष्म के आदेशानुसार ही किया करता था। भीष्म भी उसे अच्छे अच्छे उपदेश दिया करते थे और इसका फल यह हुआ कि विचित्रवीर्य का अनेक विषय संबंधी ज्ञान बढ़ गया।

धीरे धीरे विचित्रवीर्य युवा हुआ। तब भीष्म ने उसका विवाह कर देना चाहा। उसी समय काशीपति की तीन कन्याओं के स्वयंवर का समाचार भीष्म ने सुना। वे कन्याएँ अच्छे कुल की थीं और साथ ही सुंदरी भी थीं। भीष्म ने इन तीनों कन्याओं का विवाह विचित्रवीर्य के साथ करवाना चाहा। अनंतर सत्यवती से अनुमति लेकर, सैन्य सामंत सहित रथ में बैठकर, भीष्म काशी पहुँचे। निर्दिष्ट दिन स्वयंवर-सभा हुई। भीष्म ने स्वयंवर-सभा में जाकर देखा कि मंडप में चारों ओर उज्ज्वल रत्न-सिंहासन रक्खे हैं। अनेक देशों के राजा और राजकुमार बड़े साज सामान के साथ उन सिंहासनों पर बैठे हैं। सभा-मंडप सुगंधित द्रव्यों की गंध से सुवासित था। बीच बीच में मांगलिक शंखध्वनि होती थी। तीनों कुमारियाँ बहुमूल्य वस्त्र एवं आभूषण धारण करके बीच मंडप में बैठी थीं।

जब बंदीजन आए हुए राजाओं का कुल-परिचय दे चुके तब भीष्म ने खड़े होकर बड़े गंभीर स्वर से कहा—

भीष्म—मैंने तो प्रतिज्ञा कर ली है कि मैं विवाह न करूँगा, जितने दिन जीवित रहूँगा उतने दिनों ब्रह्मचर्य से रहूँगा।

यह मेरी प्रतिज्ञा कभी भंग नहीं होगी। मैं इन कन्याओं के साथ विवाह करने की इच्छा से इस सभा में उपस्थित नहीं हुआ। मेरा छोटा भाई विचित्रवीर्य जो एक सुविस्तृत राज्य का स्वतंत्र अधिपति है अब युवा हो गया है और जैसा देखने में वह बहुत सुंदर है, वैसे ही गुणों में भी बहुत चढ़ बढ़कर है। मैं उसी रूप-गुण-संपन्न कुरुराज का विवाह इन तीनों लावण्यनिधान कन्याओं के साथ करने आया हूँ।

यह कहकर भीष्म ने बड़े आदरपूर्वक तीनों कन्याओं को उठाकर रथ पर बिठाया और सभा-मंडप में उपस्थित राजाओं से कहा—

भीष्म—जो राजा इन कन्याओं के साथ विवाह करना चाहते हों वे मुझे युद्ध में परास्त करके इन्हें ले जा सकते हैं। मैं युद्ध के लिये प्रस्तुत हूँ।

यह कहकर भीष्म ने रथ आगे बढ़ाने की आज्ञा दी।

इस अनहोनी घटना के कारण सभा-मंडप में बड़ा कोलाहल मचा। सब राजा क्रुद्ध हुए और स्वयंवर-सभा के योग्य वस्त्रालंकार उतार, युद्ध वेश धारण करने लगे। सभा-मंडप में चारों ओर अस्त्रों की झनझनाहट सुनाई पड़ने लगी। कुछ क्षणों पूर्व जिस स्थान में विवाह-कालीन शांत भाव विराजता था, जहाँ सुगंधयुक्त धूपादि दिए जाते थे, मांगलिक शंख-ध्वनि हो रही थी—वही स्थान रथों की गड़गड़ाहट, अस्त्रों की झंकार से भयंकर हो गया। पराक्रमी राजा गण भीष्म

द्वारा तीनों कुमारियों के हरण किए जाने पर बड़े क्रुद्ध हुए और अस्त्र लेकर उन्होंने भीष्म का सामना किया। भीष्म का सामना वे किया पर युद्ध में वे उन्हें हरा न सके। भीष्म के बल के सामने उन्हें अपनी हार स्वीकार करनी पड़ी। हारे हुए राजा लज्जित और क्षुब्ध होकर अपने अपने घर लौट गए। भीष्म उन तीनों राजकुमारियों को बड़े यत्न से हस्तिनापुर में ले आए।

अनंतर भीष्म सत्यवती के साथ परामर्श करके भाई के विवाह की तैयारियाँ करने लगे। इतने में काशिराज की ज्येष्ठा कन्या अंबा ने नीचा सिर करके भीष्म से कहा—"मैं पहले अपने मन में शाल्वराज को अपना पति बना चुकी हूँ। शाल्वराज भी मेरे साथ विवाह करने का वचन दे चुके हैं और मेरे पिता भी इस संबंध को स्वीकार कर चुके हैं। अब न्यायतः और धर्मतः आपको जो उचित जान पड़े सो कीजिए।"

अंबा की बातें सुन भीष्म ने वेदज्ञ ब्राह्मणों का परामर्श लिया। अनंतर भीष्म ने अंबा से कहा—

भीष्म—अंबा! तुमने मन ही मन जिसे वरा है वे ही तुम्हारे पति हैं। मैं तुम्हारी इच्छा के प्रतिकूल कोई काम करना नहीं चाहता। मैं बलपूर्वक तुम्हें यहाँ रखना नहीं चाहता। मैं ऐसे कर्म को बहुत बुरा और गिरा हुआ समझता हूँ। शाल्वराज स्वयंवर-सभा में उपस्थित थे और उन्होंने हमारे

साथ युद्ध किया था। उन्हें पराजित करके हम तुम्हें ले आए हैं। तथापि जब तुम उन्हें पति रूप से वरण कर चुकी हो तब तुम उनकी सहधर्मिणी बनकर उन्हीं के साथ आनंद से रहो। मैं दयाधर्म को परित्याग कर केवल बल का प्रयोग करना नहीं चाहता। नारीधर्म में हस्तक्षेप करना कापुरुषों का काम है। मैं कापुरुषोचित कार्य करके जीवित रहना नहीं चाहता।

यह कहकर भीष्म ने यथोचित आदर और सम्मान के साथ अंबा को अपने इच्छानुसार कार्य करने की अनुमति दी। अनंतर काशीनरेश की दो कन्याओं अर्थात् अंबिका और अंबालिका के साथ विचित्रवीर्य के विवाह की तैयारियाँ होने लगीं। भीष्म ने शास्त्रज्ञ ब्राह्मणों के सम्मुख उन दोनों कुमारियों का विचित्रवीर्य के साथ विवाह कर दिया। सत्यवती पुत्र के अनुरूप पुत्रवधुओं को पाकर प्रसन्नता प्रकट करने लगी, पुरवासी भी राजा के योग्य रमणीयुगल को देख आनंद-सागर में निमग्न हो गए। समग्र कुरुराज में कुछ दिनों तक उत्सव ही मनाए गए।

विचित्रवीर्य दोनों रानियों की संगत में सुखपूर्वक समय बिताने लगे। दोनों रानियाँ भी देवसेनानी सदृश रूपवान्, देवराज के समान पराक्रमशाली और देवगुरु-सदृश सर्व-गुणान्वित पति को पाकर अपने भाग्य सराहने और मन लगाकर पति की सेवा करने लगीं। किंतु दुर्भाग्य-

वश विचित्रवीर्य को यौवनावस्था ही में क्षय रोग ने आ दबाया। भीष्म ने अपने भाई की मन लगाकर चिकित्सा करवाई। प्रसिद्ध और क्रियाकुशल चिकित्सकों ने बड़े यत्न से चिकित्सा की किंतु रोग न गया। धीरे धीरे विचित्रवीर्य का शरीर क्षीण ही होता गया। मुँह का रंग पीला पड़ गया, पहनने के कपड़े भारी लगने लगे और समस्त शरीर में हड्डी ही हड्डी रह गई।

कुरु-राज-वंश के लिये यह समय बड़ी चिंता का उपस्थित हुआ। उधर भीष्म तो आजन्म ब्रह्मचर्य धारण करने की प्रतिज्ञा कर ही चुके हैं, इधर राज्य के एकमात्र अधिकारी विचित्रवीर्य की यह दुर्दशा है! महाराज शांतनु ने जिस डर से दूसरा विवाह किया था वह अब मूर्त्तिमान् सामने खड़ा है। मनुष्य बहुत कुछ आगा-पीछा सोचता है, पर होता वही है जो ईश्वर की इच्छा होती है। विचित्रवीर्य की चिकित्सा कराने में भीष्म ने कोई बात उठा न रखी किंतु फल कुछ भी न हुआ। विचित्रवीर्य तरुणावस्था ही में घरवालों को शोक-सागर में निमग्न कर चल बसे! सत्यवती पुत्र-शोक से अधीर हो विलाप और परिताप करने लगी। अंबिका और अंबालिका भर्तृवियोग से विकल हो सिर धुनकर विलाप करने लगीं। भीष्म भाई के वियोग से मर्माहत हो आँसू बहाने लगे। जो राजभवन सदा आनंद और उत्सवों से भरा-पूरा रहता था वह इस समय शोकांधकार से भर गया।

दुःख शोक के वेग को रोककर सत्यवती ने एक दिन भीष्म से कहा—

सत्यवती—वत्स ! यह समय ऐसा उपस्थित हुआ है कि पितृगण की जल पिंडोदक क्रिया लुप्त होनेवाली है। यदि तुम इस ओर ध्यान न दोगे तो यह वंश ही नष्ट हो जायगा। यद्यपि बहुएँ गर्भवती हैं तथापि कौन कह सकता है कि लड़के होंगे कि लड़कियाँ। इस समय तुमको उचित है कि राजपाट सम्हालो। तुम धर्म-तत्त्व को भली भाँति जानते हो। वेद-वेदांग के पारदर्शी हो और राजनीति से भी भली भाँति अभिज्ञ हो। तुम्हारी जैसी बलवती धर्मनिष्ठा है वैसी ही तुम्हारी कुलाचार से अभिज्ञता है और दुष्कर कार्य करने की तुममें सामर्थ्य है। मैं आज्ञा देती हूँ कि तुम अब विवाह करो और अपना राज्याभिषेक कराओ।

सत्यवती की बातें सुन बड़े विनीत भाव से भीष्म ने कहा—

भीष्म—माता ! राजदंड धारण करने और विवाह करने के संबंध में मैंने जो प्रतिज्ञा की है वह आपको विदित ही है। आप जब से आई हो देख रही हो मैं अंतःकरण से अपनी प्रतिज्ञा का पालन कर रहा हूँ। जब पिता का स्वर्गवास हुआ, तब आपकी अनुमति लेकर मैंने चित्रांगद का राज्याभिषेक किया। अनंतर गंधर्व द्वारा उनके मारे जाने पर विचित्रवीर्य को गद्दी पर बिठाया पर स्वयं राजदंड हाथ में न लिया। जब

वह युवा हुआ तब काशी में जाकर अन्य राजाओं को परास्त कर वहाँ से तीन कन्याओं को विचित्रवीर्य के लिये लाया, उनमें से एक ने अन्य के साथ विवाह करने की इच्छा प्रकट की तब उसे यहाँ से बिदा किया। बची हुई दोनों कन्याएँ विचित्र-वीर्य को ब्याह दीं। मेरी इच्छा अब विवाह करने की नहीं है। स्वयं अपनी प्रतिज्ञा भंग करने से मैं इस लोक में धर्मभ्रष्ट और परलोक में नरकगामी होऊँगा। न तो मैं विलासी हूँ और न मैं भोगाभिलाषी हूँ, क्षुद्र विषय भोग करके पीछे धर्मभ्रष्ट होकर जीवन व्यतीत करने की इच्छा नहीं। यदि मैं अपनी उस प्रतिज्ञा को तोड़ दूँ तो लोग मेरा नाम धरेंगे और मेरे माथे पर कलंक का टीका लगेगा। माता! मनुष्य को बड़ा बोल तो न बोलना चाहिए, पर कहना पड़ता है कि त्रैलोक्य का आधिपत्य त्याग सकता हूँ, इंद्रत्व त्याग सकता हूँ, इनके अतिरिक्त और भी यदि कोई बड़ी वस्तु हो तो उसे भी मैं त्याग सकता हूँ किंतु सत्य का परित्याग मैं कभी नहीं कर सकता। धर्मराज भले ही धर्मच्युत हो जायँ, इंद्र भले ही पराक्रम-भ्रष्ट हो जायँ, सूर्य उष्णता और चंद्रमा शीतलता को भले ही त्याग दे, किंतु भीष्म अपनी प्रतिज्ञा से कभी विचलित नहीं हो सकता।

भीष्म की इस प्रकार की सत्य-पालन में दृढ़ता, भोग-राग से वीतस्पृहता और राज्य-परित्याग में परार्थपरता देख सत्यवती स्नेह-स्निग्ध और स्नेह-सने वचन बोली—

सत्यवती—वत्स ! तुम्हारी बातें सुन शरीर शीतल हुआ, हृदय धर्मभाव से पूर्ण हो गया, दोनों कान अनास्वादित-पूर्व सुख-रस से परितृप्त हुए, अंतःकरण विषयवासना और स्वार्थपरता परित्याग कर भोगाभिलाष-शून्य और परार्थ-पर हुआ। तुम्हारी पितृभक्ति और प्रतिज्ञापालन को देवता भी सराहना करते हैं। मैं तुम्हारी प्रकृति जानती हूँ। तुम सत्य के पालन में अचल अटल हो, यह मैं भली भाँति जानती हूँ। पर क्या करूँ, प्यारे पुत्र के वियोग जनित शोक के कारण मेरी बुद्धि ठिकाने नहीं है, इसी से मैंने आगा पीछा सोचे बिना ही तुमसे ऐसा कहा था। चित्रांगद के अभाव में, मैं विचित्रवीर्य का मुख देख इतने दिनों तक धैर्य रक्खे हुए थी और मैंने विचारा था कि विचित्रवीर्य बहुत दिनों तक प्रजा का पालन कर अपने किसी उपयुक्त पुत्र को युवराज बनावेगा और मैं पुत्र-पौत्रों के सामने देह त्याग कर सकूँगी, किंतु विधाता ने यह सुख भी इस अभागिनी के भाग्य में नहीं लिखा। मुझे पति के दुस्सह वियोग का तो दुःख था ही, तिस पर पुत्रशोक ने और भी दबा दिया। निस्संदेह मेरा हृदय पत्थर का है। हाय ! अब मैं किसका मुँह देखकर जीवित रहूँ ! कैसे बहुओं की वैधव्य-यंत्रणा देखूँ ! किस प्रकार पति बिना इस विशाल भवन में रहूँ ! इससे तो यदि शीघ्र परमेश्वर मेरी मट्टी समेट ले तो भी अच्छा है। अब सिवाय जन्म भर रोने के मेरे लिये है ही क्या ? मेरा

हृदय भी कैसा कठोर है ! माथे पर गाज गिरने पर भी यह हृदय नहीं फटता ।

इस प्रकार विलाप करती हुई सत्यवती अनेक प्रकार की मर्मभेदी बातें कहने लगी । तब उसको शोकान्वित देख भीष्म बोले—

भीष्म—माता ! इस संसार में कोई वस्तु चिरस्थायिनी नहीं है । जो जन्मा है वह अवश्य मरेगा । जिसका संयोग है उसका वियोग भी अवश्य ही होता है । बिधना का लिखा कोई मेट नहीं सकता ! जो बात किसी के रोके रुक नहीं सकती उसके लिये शोक करना वृथा है । इस आज्ञाकारी सेवक के रहते, माता ! आपको किसी प्रकार की असुविधा न होगी । इस समय इसी अपने पुत्र का मुख देखकर अपना हृदय जुड़ाओ । राज-सिंहासन भले सूना पड़ा रहे किंतु मेरे सामने किसी की मजाल नहीं जो अन्याय करके इसका अपमान करे । मेरे जीते किसी का साहस नहीं जो कुरुराज्य में किसी प्रकार का कोई उपद्रव खड़ा करे । हमारे जगत्प्रसिद्ध वंश की इतिश्री हो जायगी, यह डर अब भी मेरे मन में स्थान नहीं पाता । जो आर्तों की सदा रक्षा किया करते हैं, जो त्रैलोक्य की सृष्टि का नियमपूर्वक पालन करते हैं, और जो शिष्टों का पालन और दुष्टों का दमन करने में सदा उद्यत रहते हैं, वे ही अपनी विश्वपालिनी शक्ति से इस हमारे वंश की रक्षा करेंगे । विचित्रवीर्य की स्त्रियों के जब बाल बच्चा होनेवाला है, तब

तुम्हें उचित है कि उस शुभ घड़ी की बाट देखो और मंगल-मय भगवान् से प्रार्थना करो कि वे हमारे इस उजड़ते हुए वंश-वृक्ष को फिर पल्लवित करें।

भीष्म इस प्रकार सत्यवती को समझा बुझा और उसके हृदय का शोक-भार हलका करके भतीजों के जन्म की प्रतीक्षा करने लगे।

तीसरा अध्याय

धृतराष्ट्र और पांडु

समय पाकर विचित्रवीर्य की दोनों विधवा पत्नियों के एक एक बालक जन्मा। भीष्म ने उन दोनों बालकों के यथाविधि जातकर्मादि किए। अनंतर भीष्म ने अंबिका के पुत्र का नाम धृतराष्ट्र और अंबालिका के गर्भ से उत्पन्न बालक का नाम पांडु रक्खा। दुर्भाग्यवश धृतराष्ट्र जन्मांध जन्मे। भीष्म उन दोनों बालकों को निज पुत्र के समान पालने पोसने लगे। उनका जैसा स्नेह भाई विचित्रवीर्य पर था, वैसा ही उनका अपने मृत भाई के इन बच्चों पर था। धृतराष्ट्र जन्मांध थे तो क्या हुआ, पर भीष्म ने उनको भी राज कुलोचित शिक्षा देने में त्रुटि न की। दोनों कुमारों का यथासमय उपनयन संस्कार किया गया और वे वेदाध्ययन के लिये आचार्य के पास भेज दिए गए। वेदाभ्ययन पूरा होने पर उनको शस्त्राभ्यास कराया गया। भीष्म की देख-रेख में रहने के कारण शस्त्रसंचालन विद्या में भी वे दोनों बड़े निपुण हो गए। थोड़े ही दिनों में तीर चलाना, गदा-युद्ध, ढाल-तलवार की लड़ाई आदि अनेक प्रकार के युद्धों में उन्होंने अच्छी योग्यता संपादन कर ली। इन दोनों कुमारों में पांडु तो अद्वितीय धानुष्क (बाण चलानेवाले) और धृतराष्ट्र असामान्य बाहुबलशाली समझे जाने लगे।

कुमारों को इस प्रकार ज्ञानवान् और क्रिया-कुशल देखकर भीष्म पितामह बहुत प्रसन्न होते थे। यद्यपि धृतराष्ट्र जन्मांध थे तथापि हस्तिनापुर का राज-सिंहासन बहुत दिनों तक सूना न रहा। भीष्म ने अपने मन में सब शास्त्रों के ज्ञाता और धनुष-धारियों में श्रेष्ठ पांडु को राज्य-शासन के लिये उपयुक्त समझा। सत्यवती उन दोनों भाइयों की योग्यता देखकर मन ही मन प्रसन्न होती थी। अब उस राज्य में फिर आनंद-बधाई बजने लगी। पुरवासी फिर उत्सवादि करने लगे। हस्तिनापुरी मानों फिर नव उत्साह और नवीन शक्ति से सजीव हो उठी।

महामति भीष्म ने एक बार पांडु को अपने पास बुलाकर कहा—

भीष्म—बेटा! विधाता की करनी से तुम्हारे बड़े भाई जन्म के अंधे हैं। अतएव हमारे कुल में तुम ही राज-सिंहासन के अधिकारी होते हो। अब तुमको कुरुराज्य के सिंहासन पर बैठना होगा। मन लगाकर प्रजा का पालन करना हमारे कुल की प्रथा और धर्म है। तुम न्याय से और विचारपूर्वक प्रजा का पालन कर लोगों के आनंद को बढ़ाओ। क्योंकि राजा होता ही इसलिये है। प्रजा को दुर्दशा-ग्रस्त छोड़कर और स्वयं भोग-विलास में मत्त रहना, राजा के पक्ष में कल्याण-कारक नहीं है। ऐसा करने से राजकीय शक्ति का अपमान होता है। अपने ऐश्वर्य की वृद्धि करनेवाला राजा उत्तम नहीं

समझा जाता। अटल न्यायकारी, सदा शिष्टों का पालन और अशिष्टों का दमन करनेवाले एवं कीर्तिशाली राजा ही को श्रेष्ठ पद प्राप्त होता है। राजा को सदा आत्मसंयमी और गंभोर रहना उचित है। जिस प्रकार राजा को देशांतरों में अपना आधिपत्य बढ़ाना एवं शत्रुओं के आक्रमण से अपने राज्य की रक्षा करना उचित है उसी प्रकार उसका यह भो कर्त्तव्य है कि वह उदार बनकर प्रजा का चरित्र-संशोधन करे एवं उनके सुख को बढ़ानेवाले उपायों को काम में लाता रहे। प्रजारंजन करना ही उसके राजा होने का उद्देश्य है। राजा प्रजा को प्रसन्न रखनेवाले कामों में लगे और प्रजा के हितार्थ अपने शारीरिक सुखों की उपेक्षा करे। प्रजा को सुखी और शांत रखने के लिये ही भगवान् राजा को इतना उच्च पद प्रदान करते हैं। राजा प्रजा-हितकर कार्य्यों के करने में जितना कष्ट उठाते हैं उतने ही वे योग्य समझे जाते हैं। तुम राजा होकर सुनियमों से राज्य का शासन करना। अपने शारीरिक सुख की ओर दृष्टि न डालना। प्रजा को सुख पहुँचाने का सदा यत्न करना। उत्साह, अध्यवसाय और बुद्धि से सब काम पूरे होते हैं। तुम प्रजा के हित-साधन के निमित्त कर लगाना और लोगों की रक्षा के लिये दंड की व्यवस्था करना। तुमको उचित है कि समय उपस्थित होने पर समर-भूमि में क्षत्रियोचित पराक्रम दिखाओ किंतु विजयी होने पर अभिमान मत करना। तुम अपनी परम शत्रु

इंद्रियों को वश में रख विषय-भोग में प्रवृत्त होना। तुम्हारे राजत्व-काल में नारी जाति का सम्मान, वृद्ध और गुरुजनों का आदर एवं पंडितों की मर्यादा सदा बढ़नी चाहिए। असामान्य क्षमाशाली होने पर तुम क्षमा दिखाने से कभी मुँह न मोड़ना। जैसे दुर्दांत घोड़ा रास को कड़ी रखने पर भी कुपथ की ओर दौड़ जाता है उसी प्रकार तुम्हारे शासनाधीन लोग, उच्छृंखल होंगे, किंतु तुम्हारा यह कर्त्तव्य होगा कि वे ऐसा न करने पावें। देवताओं में अचला भक्ति और तत्वदर्शी ऋषियों में अटल विश्वास मनुष्य को सदा मंगलमय पथ पर चलाता है। अतः तुम सदा देव-भक्ति और ऋषि-श्रद्धा से अपने मन को पूर्ण रखना।

इस प्रकार अनेक उपदेश देकर भीष्म पांडु के अभिषेक की तैयारियाँ कराने लगे।

अनंतर शुभ मुहूर्त्त में तत्वदर्शी ऋषियों और पुरवासियों के सामने पांडु का अभिषेक किया गया। पांडु सिंहासन पर बैठकर भीष्म पितामह के आदेशानुसार राज्य करने लगे। उनके राजत्व-काल में हस्तिनापुर-वासियों की श्री बढ़ी, जनपदों में धन-धान्य की बढ़ती हुई, प्रजा सुखी और शांत रहने लगी। भीष्म राज्य में सर्वत्र शांति देख प्रसन्न हुए। जिस उद्देश्य से भीष्म ने पांडु को पढ़ाया-लिखाया और राजधर्म का उपदेश दिया था, उस उद्देश्य की सर्वांश सिद्धि देख वे प्रसन्न हुए।

एक बार भीष्म ने विदुर को संबोधन करके कहा—

भीष्म—वत्स ! इस समय पांडु यथानियम राज्य शासन कर रहा है। उसके सुप्रबंध से जनपद सुरक्षित हैं। संसार के सब राजकुलों की अपेक्षा हमारा कुल धन, मान और प्रतिपत्ति में श्रेष्ठ है। अब हमारा यह कर्त्तव्य है कि अपने कुलानुरूप कन्याओं के साथ धृतराष्ट्र और पांडु का विवाह करा दें। सुना है गांधार-राज की एक सुंदरी कन्या और मद्रदेशेश्वर की एक रूपवती बहिन है। ये दोनों लड़कियाँ हमारे कुल के योग्य हैं, मैं इन दोनों लड़कियों के साथ धृतराष्ट्र और पांडु का विवाह करना चाहता हूँ।

दासीपुत्र होने पर भी विदुर अति धार्मिक और बुद्धिमान् थे। कुरुवंशवाले उनकी उदारता और उनके गांभीर्य तथा असामान्य धर्म्मानुराग को देख उनको आदर की दृष्टि से देखते थे। सब लोगों को विदुर पर श्रद्धा थी और वे जो कुछ कहते उसका लोग आदर करते थे। भीष्म अथवा पांडु विदुर को दासीपुत्र समझ कभी उनका अनादर नहीं करते थे। किंतु विदुर का बुद्धिकौशल, नीतिज्ञान और धर्मभाव देखकर भीष्म और पांडु प्रसन्न होते और उन्हें अपना विश्वासी, हितैषी और प्रीति-भाजन समझकर उनके सहवास से सुखी होते थे। धर्मात्मा दासीतनय की कुरुकुल पर जैसी श्रद्धा थी कुरुवंशीय राजन्यगण भी उनसे उसी प्रकार प्रीति करते थे।

विदुर ने भीष्म की बातें सुन विनीत भाव से कहा—

विदुर—आर्य ! आपकी आज्ञा मैं शिरोधार्य करता हूँ। आपने माता की तरह मेरा पालन-पोषण किया है, पिता की तरह मुझे पढ़ाया-लिखाया है और गुरु की तरह मुझे सदुपदेश देकर सुपथ दिखलाया है। आपके रहते कुरुकुल की प्रतिपत्ति ज्यों की त्यों बनी रहेगी। आप विषय-भोगों से वीतस्पृह होकर भी वंश के गौरव की रक्षा का सदा ध्यान रखते हैं। आपने अपना विवाह न करके भी भाइयों के विवाह परिश्रमपूर्वक किए, स्वयं राजा न होकर भी राज्य के मंगल के लिये भाई और भतीजों को सदुपदेश दिए और उन्हें गद्दी पर बैठाया। आपसे और तो मैं क्या कहूँ आपके विचार में जो श्रेष्ठ हो मैं वही करने को तत्पर हूँ।

धीर प्रकृति विदुर यह कहकर चुप हो गए।

अनंतर भीष्म ने सत्यवती की अनुमति लेकर गांधार-राज के पास दूत भेजा। गांधार-राज सुबल ने पहले तो धृतराष्ट्र को अंधा बताकर सगाई करना अस्वीकार किया, किंतु पीछे से कौरवों के कुल, ख्याति और सदाचार की ओर देखकर उन्हें कन्यारत्न समर्पण करने को वे राजी हो गए। उन्होंने दूत को यथोचित सम्मान के साथ बिदा किया और वे कन्या के विवाह की तैयारियाँ करने लगे। शीघ्र ही सारा प्रबंध हो गया। गांधार राजकुमार शकुनि, पिता के आज्ञानुसार, भगिनी को लेकर हस्तिनापुर में पहुँचे। धृतराष्ट्र के साथ सुबल-नंदिनी गांधारी का विवाह हुआ। शकुनि यथा-विधान भगिनी का

विवाह कर भीष्म द्वारा सत्कृत होकर अपने घर लौट गए। गांधारी जैसी रूपवती थी वैसी ही वह अपने पति को प्यार करती थी। वाग्दत्ता होने पर जब उसने सुना कि उसका पति अंधा है तब से उसने प्रतिज्ञा कर ली थी कि मैं अंधे स्वामी की कभी अवज्ञा न करूँगी। वह अंधे स्वामी की मन लगाकर सेवा-शुश्रूषा करती थी, सदाचारिणी होकर बड़े बूढ़ों को प्रसन्न रखती थी, विनय और सुशीलता के कारण सब लोग उस पर प्रसन्न रहते थे।

भीष्म का एक उद्देश्य तो सिद्ध हुआ। सत्यवती गुणवती बहू को पाकर बहुत प्रसन्न थी। धृतराष्ट्र पतिप्राणा पत्नी पाकर फूले अंग नहीं समाते थे। कुरुवंशानुरूप बहू को घर में देख भीष्म उसकी सराहना किया करते थे। वे अपने एक मनोरथ में सफल हो दूसरे मनोरथ की सफलता के लिये यत्न करने लगे। धृतराष्ट्र का ब्याह करके अब उन्हें पांडु के विवाह की चिंता हुई।

इतने में कुंतिभोज की कन्या कुंती की स्वयंवर-सभा का संवाद सुन पड़ा। यदुवंशीय शूर नामक नरपति की पृथा नामक एक कन्या थी। महामति शूर ने पूर्व प्रतिश्रुति के अनुसार अपने परम मित्र कुंतिभोज के हाथ में कन्यारत्न को समर्पण किया। कुंतिभोज की पाली हुई पृथा तब से कुंती के नाम से प्रसिद्ध हुई। क्रमशः वयोवृद्धि के साथ ही साथ कुंती का रूप-लावण्य भी बढ़ने लगा। कुछ दिनों पर राजा कुंति-

भोज ने कन्या के स्वयंवर की तैयारियाँ कीं। राजा कुंतिभोज का आमंत्रण पाकर देश देशांतरों के राजा स्वयंवर-सभा में उपस्थित हुए। इन राजाओं में हस्तिनापुर के भीष्म के भेजे हुए महाराज पांडु भी थे। स्वयंवरोचित वेशभूषा से अलंकृत होकर पांडु उस सुंदर सभा-मंडप में, सुसज्जित भूपतियों के बीच, जा बैठे। सभा में बैठे हुए लोग, पांडु की प्रफुल्ल शत-दल-कमल-सदृश यौवन-कांति पर मोहित हो उनकी ओर इकटक देखने लगे। समागत राजा पांडु की उस चित्त-विमोहिनी आकृति को देख कामिनी-रत्न को पाने की आशा से हाथ धो बैठे।

जब आमंत्रित सब राजागण अपने यथोचित स्थानों पर बैठ चुके तब कुंती समयोचित वस्त्रालंकार से सुसज्जित हो और हाथ में वरमाला लिए प्रतिहारी के साथ सभामंडप में पधारी। उसके उस मंडप में पैर रखते ही सन्नाटा छा गया। उपस्थित नरपतिगण विस्मय-विस्फारित नेत्रों से कुंती की मनमोहिनी मूर्त्ति देखने लगे और उनके मुख-मंडल पर गंभीरता छा गई। बंदीगण एक एक करके प्रत्येक उपस्थित राजा का वंश-परिचय देने लगे। अनंतर कुंती प्रत्येक राजा को देखती हुई पांडु के समीप पहुँची। नवयौवन-संपन्न कुरुराज का प्रफुल्ल मुख-कमल, विशाल वक्षःस्थल, आकर्ण-विस्फारित लोचन-युगल और अनुपम माधुरी मूर्त्ति देखकर वह बहुत प्रसन्न हुई। उसने महाराजा पांडु ही के गले में वरमाला

पहनानी चाही। कुंती अन्य किसी भी नरपति की ओर न देख-कर धीरे धीरे कुरुराज के पास गई और लजाते लजाते उसने उनके गले में माला डाल दी। उस मंगल-पुष्पमयी माला के गले में पड़ते ही पांडु की शोभा और भी अधिक हो गई। उधर पांडु के संगी साथी प्रसन्न हुए। बाजेवाले बाजे बजाने लगे। राजा कुंतिभोज भी उपयुक्त जामाता पाकर संतुष्ट हुए। सभा-स्थित अन्य नृपति वर्ग रूप-निधान कामिनी-रूपी रत्न की ओर से हताश और उदास हो अपने अपने घरों को लौट गए।

कुरुराज के गले में वरमाला पड़ी देख पुरवासियों के आनंद की सीमा न रही। राजा कुंतिभोज ने प्रसन्न हो वर-कन्या-सहित अंतःपुर में प्रवेश किया। वहाँ वेद की विधि के अनुसार विवाह हुआ। अनंतर कुंतिभोज ने बहुत सा दैन दाइजा (यौतुक) देकर कुंती को बिदा किया।

स्वयंवर-सभा में आए हुए राजाओं में पांडु ने प्राधान्य लाभ किया और वे सौभाग्य-लक्ष्मी के अधिकारी हो लक्ष्मी-स्वरूपा पत्नी को लेकर राजधानी में आ रहे हैं, यह सुनकर भीष्म बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने नव दंपति की बड़े आदर के साथ अगवानी की। धृतराष्ट्र की तरह पांडु को भी मनोमत स्त्री-रत्न मिला है, यह जानकर सत्यवती और अंबिका दोनों प्रसन्न हुईं। सर्वगुणवती बहू को पाकर अंबालिका के आनंद की सीमा न रही। पुरवासी भी नववधू की बड़ाई सुन अत्यंत आनंदित होने लगे। राजभवन में उत्सवों की धूम मच गई। पुरवासी

अनेक प्रकार के मांगलिक कार्यों में संलग्न हुए। प्रत्येक पुर-वासी के घर के द्वार पर आमों के नवीन पल्लवों की बंदनवारें लटकाई गईं। पानी भरकर कलश रक्खे गए, केलों के खंभे खड़े किए गए। हस्तिनापुर में आनंद की तरंगें उठने लगीं।

कुछ दिनों बाद भीष्म ने पांडु का दूसरा विवाह करने की इच्छा प्रकट की। मद्राधिपति शल्य की एक सुंदर बहिन थी। सबसे पहले भीष्म ने पांडु के साथ उस सुंदरी का विवाह करना चाहा। अपने इस संकल्प को पूरा करने के अर्थ उन्होंने यात्रा की। उनकी सहायता के लिये उनके प्रधान मंत्री, ब्राह्मण और महर्षिगण उनके साथ गए।

मद्रराज शल्य ने भीष्म के आगमन की सूचना पाकर बड़ी धूमधाम से उनका स्वागत किया। अनंतर अर्घ, पाद्य, आस-नादि से उनका सत्कार करके आने का कारण पूछा। तब भीष्म ने कहा—

भीष्म—राजन्! मैं कन्यार्थी होकर यहाँ आया हूँ। सुना है, माद्री नाम की आपकी एक बहिन है। उनके साथ हमारे भतीजे का विवाह आप कर दें, मेरी यही प्रार्थना है। हमारा आपका यह संबंध सब प्रकार से हो सकता है। हमारा और आपका वंश समान है। आप पांडु को अपनी भगिनी देकर और हमारे साथ संबंध स्थापित कर परम सुखी होंगे।

मद्रराज ने प्रसन्नतापूर्वक भीष्म का प्रस्ताव स्वीकार किया और अपनी भगिनी भीष्म को सौंप दी। भीष्म ने भी शल्य को

उपहार-स्वरूप मणि, मुक्ता, प्रवालादि देकर और माद्री को लेकर हस्तिनापुरी को प्रस्थान किया।

अनंतर भीष्म ने वेदज्ञ ब्राह्मणों एवं सत्यवती के मतानुसार शुभ दिन और शुभ लग्न में पांडु के साथ माद्री का विवाह कर दिया। पांडु ने माद्री के साथ विवाह कर उसके रहने के लिये एक सुरम्य भवन बनवा दिया। कुंतिभोज की दुहिता के साथ पांडु का विवाह होने पर जैसा उत्सव मनाया गया था वैसा ही इस बार भी मनाया गया। कुंती और माद्री के परस्पर सपत्नी होने पर भी दोनों में थोड़े ही दिनों के भीतर अकृत्रिम सौहार्द उत्पन्न हो गया। दोनों परस्पर सौतिया डाह को परित्याग कर मन, वचन, कर्म से पति की सेवा करने लगीं। महाराज पांडु दोनों पत्नियों की सेवा-शुश्रूषा से प्रसन्न होकर राज्य-शासन करने लगे।

इस प्रकार धृतराष्ट्र और पांडु दोनों के भीष्म ने विवाह किए। समदर्शी भीष्म के कारण किसी को किसी प्रकार का कभी कष्ट न हुआ। धृतराष्ट्र जिस प्रकार पति-प्राणा पत्नी की सेवा-शुश्रूषा से संतुष्ट रहते उसी प्रकार पांडु भी कुलानुरूप दोनों सहधर्मिणियों के साथ उद्वाह बंधन में आबद्ध होकर प्रसन्न रहा करते थे। धृतराष्ट्र जन्मांध थे तो क्या हुआ, पर भीष्म उन्हें चक्षुष्मान् और रूपवान् ही समझते थे। भीष्म दोनों भाइयों को एक दृष्टि से देखते थे, दोनों पर एकसा स्नेह करते थे और सदा ऐसे कार्य करते जिससे दोनों संतुष्ट

रहें। आचार, सौंदर्य और कुलगौरव में धृतराष्ट्र और पांडु की पत्नियों में किसी प्रकार की विलक्षणता न थी। भीष्म के सद्-व्यवहार से धृतराष्ट्र और पांडु दोनों ही बहुत प्रसन्न और संतुष्ट रहते थे और दोनों ही सौभ्रात्र सुख से समय व्यतीत करते थे।

धृतराष्ट्र और पांडु का विवाह कराकर भीष्म ने विदुर के विवाह का यत्न किया। इस कार्य में भी भीष्म के स्नेह और प्रीति का परिचय पाया गया। दासी-तनय होने पर भी विदुर दास की तरह अवज्ञा के पात्र नहीं समझे जाते थे। भीष्म विदुर को पांडु और धृतराष्ट्र के समान ही देखते थे। विदुर जैसे धर्म्मात्मा और शांतस्वभाव थे भीष्म ने वैसी ही धर्म्मानुरागिणी और सौंदर्यशालिनी कुमारी को खोजकर उनका विवाह कराया।

ऋतुपर्यायक्रम से शरत्काल उपस्थित हुआ। मेघमंडल के तिरोहित होने के साथ ही साथ सूर्य की किरणें प्रखर और चंद्रमा की किरणें उज्ज्वल हो गईं। फूले हुए कमलों से सरोवरों की शोभा दुगुनी बढ़ गई। मराल-कुल उस सरसी-सलिल में सुंदर समीर के संचालन से तरंगावली के सहित नाचने लगे। काँस फूले। उन फूलों को देख ऐसा जान पड़ने लगा मानों धरित्री ने अपने को पवित्र करने के अर्थ अपने वक्षःस्थल को महामति भीष्म के दिए यशोराशि रूपी गुच्छों से सुसज्जित किया है। आकाश मेघाडंबर से शून्य हो निर्मल

हुआ। मार्ग की कीचड़ सूख गई। नदी और नाले अपनी पूर्वस्थिति को प्राप्त हुए और आने जाने का मार्ग फिर पूर्ववत् सुलभ हो गया। खेत हरे भरे दीखने लगे। उन्हें देख किसानों के मन में आशा और उत्साह का संचार हुआ। दिशाएँ स्वच्छ हो गईं, पृथिवी कीचड़ से रहित हुई, और सुनील गगन-मंडल में तारागण पहले से अधिक उज्ज्वलता धारण कर चमकने लगे।

शरत् को देख पांडु ने दिग्विजय-यात्रा का संकल्प कर अपना अभिप्राय भीष्म को जनाया। भीष्म ने पांडु के प्रस्ताव का हृदय से अनुमोदन किया। तुरंत अनेक स्थानों से सेना मँगाकर एकत्र की गई। शूर सामंत अपनी अपनी सेना लेकर राजधानी में आ उपस्थित हुए। पांडु ने स्वाधिकार सुरक्षित रखने के अर्थ सैनिकों को अग्रिम वेतन देकर वशीभूत किया। हस्ती, अश्व, रथ आदि भली भाँति सजाए गए। अनंतर पांडु ने भीष्म, धृतराष्ट्र और सत्यवती को प्रणाम कर शुभ क्षण में चतुरंगिणी सेना के साथ युद्ध के लिये यात्रा की।

पहले पांडु दशार्ण जनपद में गए। दशार्ण-राज ने पांडु के पराक्रम से पराजित होकर और उन्हें अनेक प्रकार की बहुमूल्य वस्तुएँ भेंट देकर संतुष्ट किया। पांडु वहाँ से विजय-श्री प्राप्तकर मगध देश में पहुँचे। मगधराज को अपने बल का बड़ा अभिमान था। पांडु के बल के सामने भी उसने अपना सिर न झुकाया। पहले से भी अधिक उसका

अभिमान बढ़ा और अपनी प्रधानता और, अपना गौरव बनाए रखने की वासना बढ़ी। वह पांडु के बल और उनकी बलवती सेना की उपेक्षा करने लगा। किंतु रणक्षेत्र में अवतीर्ण होने पर मगधराज को नीचा देखना पड़ा। पांडु के पराक्रम के सामने मगधराज का पतन हुआ, यहाँ तक कि मगधराज युद्ध में मारा गया। पांडु ने उसका धनरत्न लेकर मिथिला देश की यात्रा की। विदेह-वासियों ने पांडु के पराक्रम से पराभूत होकर उनकी अधीनता स्वीकार की। पांडु जैसे उद्धत लोगों के शासनकर्त्ता थे वैसे ही शरणागत-वत्सल भी थे। उन्होंने विदेहवासियों को स्व-स्व पद पर प्रतिष्ठित कर वाराणसी की ओर प्रस्थान किया। यहाँ भी उनका प्रताप अक्षुण्ण रहा। अनंतर पांडु अन्य प्रदेशों में गए और उन्होंने वहाँ अपना प्राधान्य जमाया।

अमितविक्रम पांडु, इस प्रकार जहाँ जहाँ जाते वहाँ वहाँ उनकी विजय का डंका बजता था। जहाँ कहीं उनके मार्ग में कोई नद अथवा नदी बाधा डालती, वहीं वे उस पर दृढ़ सेतु बनवा दिया करते थे। जहाँ कहीं उन्हें जल का कष्ट होता वहीं वे सरोवर खुदा दिया करते थे। जिस स्थान में उन्हें अंधकारमय जंगल मिलता वहाँ वे उसे कटवाकर प्रशस्त मार्ग बनवा दिया करते थे। सर्वत्र पांडु की असामान्य क्षमता का परिचय पाया जाता था। देश देशांतरों के नरेश पांडु की अधीनता स्वीकार कर उनको बहुमूल्य भेंटें देते थे। इस प्रकार

कुरुराज पांडु अपनी असामान्य वीरता से वीरभोग्या वसुंधरा को अपने हस्तगत कर अनेक बहुमूल्य भेटें लिए हुए अपनी राजधानी को लौट आए।

पांडु के राजधानी के समीप पहुँचने का संवाद सुन भीष्म ने मंत्रियों समेत दिग्विजयी कुरुराज का स्वागत किया। जब भीष्म ने देखा कि पांडु अनेक भूपालों को अधीन कर और उनसे बहुमूल्य भेंटें लेकर चतुरंगिणी कौरव-सेना-सहित विजयश्री से गौरवान्वित होकर सकुशल लौट आए तब उनके आनंद की सीमा न रही। उन्होंने आगे बढ़कर भुवन-विजयी पांडु से कुशल पूछी। उनके नेत्रों से आनंद के अश्रु निकल पड़े। पांडु ने विजय-गौरव से उन्नत होकर भी नम्रतापूर्वक भीष्म के चरणों में मस्तक रक्खा और उनके साथ जो मंत्री आए थे उनसे यथायोग्य व्यवहार किया। चारों ओर तुरही, शंख और दुंदुभी के शब्द सुनाई पड़ने लगे। ब्राह्मण हाथ उठा उठाकर आशीर्वाद देने लगे। पुरांगनाओं ने मंगल-सूचक लावा आदि की पांडु के ऊपर वृष्टि करके अपनी प्रसन्नता प्रकट की। कुरुराज-वासी समस्त पुरवासी एवं शूर सामंत कहने लगे कि पांडु ने उन राजाओं को भी करद-राज बना लिया जो पहले कुरुराज की संपत्ति आदि हरण कर चुके थे। महात्मा भीष्म के यत्न से यदि पांडु धनुर्वेद की यथोचित शिक्षा न पाते और राजगद्दी पर न बैठते तो आज यह आनंदोत्सव देखने का स्वर्गीय सुख हमें क्योंकर प्राप्त होता?

भीष्म पवित्र कुरुकुल में मंगल-विधायी देवता के समान विराजमान हुए। उनके उद्योग और मंगल कामना से भरत-वंश का सदा मंगल होता था। इन्हीं परार्थपर और विषय-वासना-शून्य महापुरुष के प्रसाद ही से आज दिग्विजयी पांडु की कीर्त्ति दिगंतव्यापिनी हुई है। इस प्रकार के आमोद-प्रमोद के साथ भीष्म बड़ी धूमधाम से पांडु को नगर के भीतर ले गए।

आनंद-कोलाहल-मय राजभवन में प्रवेश कर पांडु ने यथाक्रम सत्यवती, अंबिका, अंबालिका और धृतराष्ट्र को प्रणाम किया। सत्यवती तो अपने पौत्र के जयलाभ से आनंद-सागर में डूब गई। अंबिका ने प्रसन्न होकर देवताओं से पुत्र के मंगल के अर्थ प्रार्थना की। आनंदाश्रुओं से अंबिका का वक्षःस्थल तर हो गया। अंबालिका ने आनंदाश्रु-परिपूर्ण नयनों से और बड़ी प्रीति के साथ पांडु को गले लगाया। धृतराष्ट्र भाई के असाधारण कार्यों का विवरण सुन अत्यंत प्रसन्न हुए। कुंती और माद्री के आनंद की सीमा न रही। वे अपने को बड़भागिनी समझने लगीं। विजयी पांडु के लौटने से सब लोग प्रसन्न हुए। कुछ दिनों तक सब लोग कुरुराज की वीरता के गीत गाते रहे और पुरुष-श्रेष्ठ भीष्म के लोकोत्तर चरित का कीर्त्तन करते रहे।

चौथा परिच्छेद

कौरवों और पांडवों की अस्त्र-शिक्षा

धीरे धीरे कुरुकुल की शाखा प्रशाखाएँ बढ़कर फैलने लगीं। पांडु-महिषी कुंती के तीन और माद्री के दो पुत्र उत्पन्न हुए। उधर धृतराष्ट्र-पत्नी गांधारी के सौ पुत्र हुए। पांडु और धृतराष्ट्र दोनों ही को यथेष्ट संतान-सुख प्राप्त हुआ। यथा-विधान कुमारों के जात-कर्मादि संपन्न हुए। कुंती के तीन पुत्रों के नाम पड़े युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन। माद्री के दोनों पुत्रों में से ज्येष्ठ का नाम नकुल और छोटे का सहदेव रक्खा गया। धृतराष्ट्र के पुत्रों के क्रमानुसार दुर्योधन, दुःशासन आदि नाम रक्खे गए।

कुमार शिक्षित और युवा भी नहीं हो पाए थे कि पांडु ने देह त्याग दी। पांडु की मृत्यु से समस्त कुरुराज में शोक छा गया। सत्यवती और भीष्म तो शोकसागर में डूब गए। कुंती और माद्री "हाय क्या हुआ ?" कहकर सिर धुन धुन-कर मूर्च्छित हो गईं। कुछ देर बाद जब उन्हें चेत हुआ तब कुंती ने माद्री से कहा—

कुंती—शुभे ! मैं आर्यपुत्र की ज्येष्ठा पत्नी हूँ। अतः सब कार्य प्रथम करने का मुझे ही अधिकार है। इस समय आर्यपुत्र जिस मार्ग के बटोही बने हैं, मैं भी उसी पथ का

अनुसरण करूँगी। मैं अपने बाल-बच्चों के पालन-पोषण का भार तुम्हें सौंपती हूँ। तुम शोक के वेग को रोककर इनकी रक्षा करना और लोकांतरित आर्यपुत्र की मंगल-कामना के अर्थ धर्म्माचरण करना। मैं आर्यपुत्र के साथ जाती हूँ, तुम इसमें किसी प्रकार की बाधा मत डालना।

शोकाकुल कुंती की बातें सुन, माद्री ने कहा—

माद्री—आर्य्ये! मैं सांसारिक कार्य्यों से अनभिज्ञ हूँ। वय कम होने के कारण मेरी विवेचना-शक्ति परिवर्द्धित नहीं हुई। संतान-पालन जैसा दुःसाध्य कार्य मैं कर सकूँगी कि नहीं, इसमें मुझे संदेह है। विशेषकर यह कि यदि मैं दुर्बुद्धि में पड़ अपने बच्चों जैसा तुम्हारे बच्चों का स्नेहपूर्वक पालन न कर सकी तो अवश्य मैं नरकगामिनी होऊँगी। हमारे दोनों बच्चे अभी छोटे छोटे हैं। यदि तुम न रहीं तो इनको कौन सहारा देगा? कौन स्नेहपूर्वक इनका लालन पालन करेगा? ये किसका मुख देखकर रहेंगे? कहीं ये मृत्यु के मुख में पड़े तो मेरी क्या गति होगी? इनकी रक्षा के लिये तुम्हारा जीवित रहना आवश्यक है। यदि ये बच्चे न रहे तो आर्यपुत्र को पिंड एवं जल-दान देकर कौन तृप्त करेगा? अतएव इनकी रक्षा और परलोक-गत आर्यपुत्र की परितृप्ति के लिये तुम आर्यपुत्र की सहगामिनी मत बनो। मैं उनके साथ जाती हूँ। देखना मेरे दोनों बच्चों को किसी प्रकार का कष्ट न होने पावे। आप अपने युधिष्ठिरादि की

तरह बड़ी सावधानी से इन दोनों मेरे बालकों का पालन करना। ऐसा न हो कि ये तुम्हारे स्नेह से वंचित रहें।

यह कहकर पतिप्राणा माद्री ने मृत पति के साथ गमन किया। कुंती छोटे छोटे बच्चों की ओर देख सती न हुई।

पांडु के लोकांतरित होने पर भीष्म अपनी प्रकृतिसिद्ध उदारता और समदर्शिता के साथ युधिष्ठिरादि कुमारों की देख-रेख करने लगे। जिस प्रकार उन्होंने विचित्रवीर्य के साथ व्यवहार किया था, जिस स्नेह के साथ उन्होंने धृतराष्ट्र और पांडु का प्रतिपालन किया था उसी प्रकार और उसी तरह वे पितृहीन युधिष्ठिरादि का भी प्रतिपालन करने लगे। बारंबार विपत्ति पड़ने पर भी आजन्म-ब्रह्मचर्य-व्रत-धारी भीष्म की कर्त्तव्य-बुद्धि में तिल भर भी अंतर न पड़ा। चित्रांगद के मरने पर जिस प्रकार उन्होंने कुरुराज्य की भलाई पर सदा ध्यान रक्खा था, जिस प्रकार विचित्रवीर्य के लोकांतरित होने पर वंश-गौरव की रक्षा के अर्थ परिश्रम किया था, इस समय वे उसी प्रकार पांडु के देहांतरित होने पर कुरुकुल की प्रतिपत्ति के विस्तार के निमित्त यत्न, परिश्रम और अध्यवसाय का परिचय देने लगे। उनका उद्योग और श्रम देखकर सब अवाक् और हतबुद्धि हुए। उन्होंने राजदंड ग्रहण किए बिना ही और अविवाहित रह-कर भी राजभक्त प्रजा के समान, निःस्वार्थ भाव से जैसी कर्त्तव्यनिष्ठा का परिचय दिया उसे देख पुरवासी तथा

अन्य लोग विस्मित हुए और भक्तिपूर्वक उनको सिर नवाने लगे। भीष्म ने कुमारों की देख-रेख और शिक्षा-दीक्षा का भार तो उठा लिया किंतु वे किसी भी कार्य में प्रभुत्व नहीं जनाते थे। राज के सारे काम-काज धृतराष्ट्र के आदेशानुसार हुआ करते थे।

पांडु की मृत्यु से सत्यवती के मन में वैराग्य उत्पन्न हुआ। सत्यवती सांसारिक कार्यों में उदासीनता दिखलाने लगीं। एक बार सत्यवती ने भीष्म से कहा—

सत्यवती—वत्स ! पांडु के शोक से मेरा शरीर सन्न पड़ गया है। मुझे कोई भी वस्तु भली नहीं लगती। राज-भवन सूना और संसार अग्नि से जले हुए अरण्य जैसा जान पड़ता है। पांडु का मुख देखकर ही इतने दिनों तक मैं विचित्रवीर्य का दुःख भूली हुई थी और मैंने समझ रक्खा था कि पांडु के द्वारा हमारा पवित्र कुल उज्ज्वल होगा किंतु इस समय मेरी वह आशा निर्मूल हो गई। इस छोटी सी अवस्था ही में धृतराष्ट्र के पुत्रों की जैसी प्रकृति देखती हूँ, उससे मुझे बड़ा खटका है। कुल-क्षय-कर दुर्निवार भ्रातृ-विरोध की शंका मेरे मन में जड़ पकड़ती जाती है। प्रिय-वियोग और अप्रिय-संयोग का समागम हो रहा है। मुझे अब अपने अधिक जीवित रहने से कोई लाभ नहीं दीख पड़ता। पुराने घाव अब नए होते जाते हैं और सर्वसंहारक काल की छाया मुझे सर्वदा प्रत्यक्ष दीख पड़ती है। अब अधिक काल तक इस संसार में रहने की मेरी

इच्छा भी नहीं है। सांसारिक झगड़ों में पड़ने का अब उत्साह भी नहीं रहा। राजजीवन के स्वर्गीय सुखों को भोगने की लालसा नहीं रही। मैं अब दोनों बहुओं को साथ लेकर वन में जाकर रहूँगी और वहाँ अंत में अनंत पद-प्राप्ति के लिये कठोर तपस्या करूँगी।

सत्यवती के ऐसे दुःख भरे वचन सुनकर भीष्म कहने लगे—

भीष्म—माता ! आपने उपयुक्त पथ का अवलंबन करने का संकल्प किया है। धर्म का अनुशासन इस समय जान नहीं पड़ता। इस समय पृथिवी पर पाप का स्रोत वेग से प्रवाहित हो रहा है। जीवगण इस समय संकोच छोड़कर, दुष्परिहार्य पाप-पंक में आ-पाद-मस्तक डूबे हुए हैं। ऐसे समय में तपस्या करना ही कर्त्तव्य कर्म है। मैं तो कठोर प्रतिज्ञा-रूपी पाश में बँधा हुआ होने के कारण जैसे विवाह नहीं कर सकता, उसी प्रकार राजमुकुट भी सीस पर धारण नहीं कर सकता। इस विस्तृत कुरुराज्य की मैं भी एक सामान्य प्रजा के समान हूँ। जैसे राज्य-संपत्ति पर मेरा कुछ भी अधिकार नहीं है वैसे ही राजा की आज्ञा के विरुद्ध चलने की भी मुझमें क्षमता नहीं है। मैं कुरुराज के अन्न से प्रतिपालित हो रहा हूँ, अतएव सब प्रकार से राजभक्त प्रजा के समान आचरण करना ही मेरा कर्त्तव्य है। अन्नदाता कुरुराज का सब प्रकार से मंगल करना ही मेरा कर्त्तव्य है। मैं कुरुकुल की हित-कामना के लिये युधिष्ठिरादि कुमारों का मन लगाकर पालन-

पोषण कर रहा हूँ। इसी से जान पड़ता है कि मैं तपस्या न भी करूँ तो भी कर्त्तव्य कर्म में नियुक्त रहने से पाप मुझे स्पर्श तक नहीं कर सकता। मैंने पिता को तृप्त करने के लिये जो सत्यव्रत धारण किया था उसे मैं अभी तक धारण किए हुए हूँ। मन, वचन, कर्म द्वारा सत्य का पालन करने से मैं परम पुण्य-फल पाऊँगा। मैं इसी धर्मबल से अक्षय्य स्वर्ग पाऊँगा, और अक्षय्य सिद्धिदाता पितृदेव के चरणों को देख सकूँगा।

भीष्म के ऐसा कहने पर सत्यवती ने वनगमन का संकल्प कर अपना अभिप्राय दोनों बहुओं को जनाया। अंबिका और अंबालिका भी सास के प्रस्ताव पर सहमत हुईं। अनंतर सत्यवती सबसे बिदा होकर दोनों बहुओं को लिए हुए पवित्र-सलिला भागीरथी के तटवर्त्ती अरण्य में चली गई। वहाँ पर्णकुटी ही उन तीनों का शयनगृह, कुशासन ही उनकी शय्या और बनैले फल-मूल ही उनके खाद्य पदार्थ हुए। अरण्य-चारिणी कुरंगी और वनांतवासिनी ऋषिपत्नियों के साथ उनकी मैत्री हुई। उन्होंने उसी प्रसन्नसलिला भागीरथी के पवित्र तट पर उसी शांत-रसास्पद पुनीत निकेतन में योगमार्ग द्वारा तनत्याग किया।

उधर युधिष्ठिरादि पांडव हस्तिनापुर के राजभवन में धीरे धीरे बड़े होने लगे। जिस समय सब कुमार खेल में मत्त होते थे, जिस समय कोमल कंठ से, अस्फुट-मधुर-स्वर से, माँ माँ कहकर पुकारते थे उस समय कुंती सब दुःखों

और शोकों को भूलकर आनंद में भर उनका मुख चुंबन करती थी। युधिष्ठिर, भीम, और अर्जुन के समान ही नकुल और सहदेव भी कुंती के स्नेह-भाजन थे। उन सबकी कोमल और तोतली बातें ही उसके दोनों कानों में अमृत बरसाती थीं, उनके प्रफुल्ल मुखारविंद ही उसके हृदय में अनिर्वचनीय संतोषरस को बढ़ाते थे, सबका सीधा-सादा सदाचार ही उसकी समस्त यातनाओं को दूर करता था।

जब कुमार पाँच वर्ष के हुए तब भीष्म ने यथाक्रम सब का चूड़ाकर्म किया और उन्हें शिक्षा देने के अर्थ एक उपयुक्त शिक्षक नियुक्त कर दिया। ग्यारहवें वर्ष में सबका उपनयन संस्कार कराके भीष्म ने उनके वेदाध्ययन की व्यवस्था कर दी। उन सब कुमारों में युधिष्ठिर बड़े उदार स्वभाव के, धर्मात्मा और सरल थे। उनका प्रशांत भाव, सरलतामय सदाचार, बलवती धर्मनिष्ठा और प्रगाढ़ सत्य-परायणता देखने से जान पड़ता था कि मानों साक्षात् धर्मराज, मानव-मूर्ति धारण कर इस धराधाम पर अवतरे हैं। उधर धृतराष्ट्र का ज्येष्ठ कुमार दुर्योधन बड़ा क्रूर, पापाचारी और ऐश्वर्य-लुब्ध था। युधिष्ठिरादि पांडु-कुमार एकाग्रमन होकर, वेदादि शास्त्र पढ़ा करते थे। शास्त्र-ज्ञान-संपादन में उनका अनुराग प्रबल रूप धारण करता जाता था। किंतु दुर्योधन शास्त्राभ्यास में वैसा मन नहीं लगाता था। शास्त्रीय विषय अथवा तत्त्व उसके मन में पैठते ही नहीं थे। दुर्योधन ऐश्वर्य-मद में प्रमत्त हो

संकोच को छोड़कर गुरुजनों का भी अपमान करने लगा। युधिष्ठिरादि के ऊपर वह सदा जलने लगा। किसी प्रकार क्यों न हो, पांडवों को पीड़ा पहुँचाने ही में उसे परम आनंद प्राप्त होता था। भीष्म ने उसे अनेक प्रकार से समझाया, किंतु दुर्योधन की प्रकृति न सुधरी। कुंती इससे बड़ी दुखी हुई और विदुर के सामने परिताप करने लगी। विदुर ने कुंती से कहा कि सावधानी से तुम अपने कुमारों की देख-रेख किया करो, साथ ही यह भी कह दिया कि सबके सामने तुम दुर्योधन की निंदा मत किया करो, क्योंकि ऐसा करने से वह दुरात्मा उत्तेजित होगा और पहले से अधिक उपद्रव करने लगेगा। कुंती ने विदुर की बात गाँठ बाँधी और पांडव भी सबके सामने दुर्योधन की निंदा न कर अपनी रक्षा करने में सावधान हुए।

दुर्योधन की उद्दंडता और अशिष्टाचार को देख भीष्म बड़े दुखी हुए। युधिष्ठिरादि के धर्मभाव और सदाचार से वे जितने प्रसन्न होते थे, दुर्योधन की उद्धतता और पापाचारों को देख उतने ही अप्रसन्न रहा करते थे। भीष्म ने सबको सम भाव से धर्मशास्त्र, राजनीति, लौकिक तत्त्व आदि की शिक्षा दी, किंतु उनके उपदेश कहीं सफल हुए और कहीं व्यर्थ गए। संयत-चित्त और बुद्धिमान् कुमारों ही ने उन उपदेशों से लाभ उठाया और असंयत-चित्त निर्बोधों को उनसे कुछ भी लाभ न हुआ। यद्यपि गुरु ने सबको एक सा उप-

देश दिया, तथापि पात्रभेद से फलभेद हुआ। किरणें समुज्ज्वल मणिमंडित स्तूप पर ही गिरने से चमकती हैं, किंतु मिट्टी के खंभे पर उनकी उज्ज्वलता मंद पड़ जाती है। शास्त्रीय उपदेशों से युधिष्ठिरादि जैसे प्रसन्न, प्रशांत और प्रबुद्ध हुए, दुर्योधनादि वैसे न हुए।

एक दिन सब कुमार नगर के बाहर मैदान में लोहे की गेंद से खेल रहे थे। खेलते खेलते वह गेंद एक अंधे कूप में जा गिरी। कुमारों ने बहुत चाहा कि गेंद को कुएँ से निकालें किंतु वे उसे न निकाल सके। उस समय उधर से एक वृद्ध ब्राह्मण जा रहे थे। वे ब्राह्मण देखने में न तो मोटे ताजे थे और न बहुत गोरे पीले थे। बुढ़ापे के कारण उनके सब बाल सफेद हो गए थे। कुमार उन्हें चारों ओर से घेरकर खड़े हो गए। लटे, दुबले और बूढ़े ब्राह्मण ने मुस्कराकर उन कुमारों से कहा—

ब्राह्मण—बालको! तुम महाप्रतापी भरत के वंश में जन्म लेकर भी सामान्य जलशून्य कूप से गेंद नहीं निकाल सकते! इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि तुम्हें कुछ भी अस्त्र-शिक्षा नहीं मिली। देखो मैं अपनी इस अँगूठी और तुम्हारी गेंद को अभी कूप से निकाल देता हूँ।

यह कहकर ब्राह्मणदेव ने कुश का एक मूँठा लेकर पहले तो गेंद निकाली, अनंतर धनुष पर बाण रख उसकी सहायता से अँगूठी निकाली। कुमारों ने उस शीर्णकाय मलिन-

वेश ब्राह्मण के इस असामान्य कार्य को देख बड़ा विस्मय प्रकट किया और वे एक दूसरे के मुख की ओर देखने लगे। अनंतर सबमें बड़े युधिष्ठिर ने हाथ जोड़कर उन ब्राह्मण से कहा—

युधिष्ठिर—भगवन्! आपने अभी जो कर्त्तव्य दिखाया, उसे दूसरा नहीं दिखा सकता। आप के हाथ की सफाई देख हमें बड़ा आश्चर्य हो रहा है। यदि कोई हानि न हो तो आप अपना परिचय देकर हमें कृतार्थ कीजिए।

वृद्ध ब्राह्मण ने अपना परिचय न देकर कौशलपूर्वक कहा—

वृद्ध ब्राह्मण—वत्स! तुम अपने बाबा भीष्म के पास जाकर मेरा आकार, प्रकार और गुण वर्णन करके कहना कि वही वृद्ध पुरुष यहाँ आया है।

ब्राह्मण के कथनानुसार युधिष्ठिर अपने अनुजों समेत भीष्म के पास जाकर बोले—

युधिष्ठिर—बाबा! हम लोग नगर के बाहर गेंद खेल रहे थे। सहसा हमारी गेंद एक अंधे कुएँ में गिर पड़ी। हम लोगों ने उसके निकालने के लिये अनेक उपाय किए, पर हममें से कोई भी उसे न निकाल सका। इतने में उधर से एक बूढ़ा ब्राह्मण आ निकला। हमारे कहने पर उसने एक मुट्ठा कुशों के सहारे झट हमारी गेंद निकाल दी। पीछे अपने हाथ की अँगूठी कूप में डाल बाणों से निकाली। हमको उसके इन

कर्तबों को देख बड़ा आश्चर्य हुआ और हमने उससे उसका नाम-धाम पूछा। किंतु उसने कुछ भी न बतलाया और कहा कि आपके पास जाकर हमारा आकार, प्रकार एवं गुण वर्णन करो। हम लोग उसी के कथनानुसार आपके पास आए हैं। वह ब्राह्मण श्याम वर्ण का है और कृश शरीरवाला है। उसके शरीर के सब केश सफेद हैं। उसके मलिन वेश को देखने से जान पड़ता है कि वह अति दरिद्र है। उसके आकार को देख यह कोई भी नहीं कह सकता कि उसमें ऐसी असामान्य शक्ति है। वही तेजस्वी वृद्ध ब्राह्मण नगर के बाहर बैठा है।

युधिष्ठिर के मुख से सब हाल सुनकर, भीष्म ने जान लिया कि धनुर्वेद-विशारद द्रोण पधारे हैं। भीष्म इसके पहले ही कुमारों की अस्त्र-शिक्षा के लिये एक उपयुक्त शिक्षक की खोज में लगे हुए थे। इस समय द्रोणाचार्य के आगमन की सूचना पाकर, प्रसन्न हो वे उनके पास गए और बड़े आदर सत्कार के साथ कहने लगे—

भीष्म—भगवन्! मैं इन कुमारों को किसी धनुर्वेद-विशारद के समीप अस्त्र-शिक्षा के लिये भेजनेवाला ही था। इतने में सौभाग्य-वश आपने घर बैठे मुझे कृतार्थ किया। अब आप अनुग्रहपूर्वक इन कुमारों की अस्त्र-शिक्षा का भार ग्रहण कर भरतकुल का मंगल कीजिए। कुमार सदा आपकी आज्ञा में रहेंगे। राजकर्मचारी सदा आपकी सेवा-शुश्रूषा में नियुक्त

रहेंगे। आपको जिस समय, जिस वस्तु की आवश्यकता होगी उसी क्षण वे आपको वह वस्तु ला देंगे।

भीष्म के सौजन्य और शिष्टाचार से प्रसन्न होकर द्रोण ने कुमारों की अस्त्र-शिक्षा का भार ग्रहण करना स्वीकार किया। कुछ दिनों तक द्रोण ने हस्तिनापुरी में विश्राम किया। अनंतर भीष्म ने बहुत सी भेंट के साथ कुमारों को उन्हें सौंपा। तब आचार्य द्रोण ने उन कुमारों को अस्त्र-शिक्षा देनी प्रारंभ की।

आचार्य द्रोण हस्तिनापुर में कुरुवंशीय कुमारों को अस्त्र-शिक्षा दे रहे हैं, यह संवाद सुनकर सूतपुत्र कर्ण और अन्यान्य राजकुमार भी शिक्षार्थी होकर द्रोण के समीप गए। द्रोण के शिष्यों की संख्या बढ़ने लगी और सम्मान और प्रतिपत्ति के साथ ही साथ उनके पास विपुल संपत्ति का भी आगमन हुआ। द्रोण के लिये एक समय वह भी था जब धनाभाव के कारण उन्हें कड़ाके करने पड़ते थे। आज उनके सामने वह भी दिन उपस्थित है कि गुणग्राही भीष्म के प्रसाद से वे अतुल संपत्ति के अधिपति बनकर राजों जैसे सुख उपभोग कर रहे हैं। जो चमकती हुई मणि सम्राट् के स्वर्ण-किरीट की अपूर्व शोभा बढ़ाती है उसी मणि के गुणों का, बिना जौहरी के हाथ में पहुँचे, न तो विकाश होता है और न वह पृथिवी-पति के मस्तक तक पहुँच ही पाती है। गुणग्राहियों के अभाव में वह मणि खान के अंधकारमय गर्भ ही में पड़ी रहती है।

यदि भीष्म गुण की मर्यादा न रखते, तो दरिद्र सहचर आचार्य, दुर्दशाग्रस्त हो, किसी निर्जन स्थान में जाकर छिप जाते। उनकी अस्त्र-विद्या उनके शरीर के साथ ही अंतर्हित हो जाती। लोग उनकी अनन्यसाधारण तेजस्विता देख विस्मित न होते।

भीष्म की गुणग्राहकता के कारण आचार्य का जिस प्रकार अभाव पूर्ण हुआ उसी प्रकार उनकी कीर्ति चारों ओर फैली। बहुत दिनों से अर्थ-कष्ट से पीड़ित आचार्य का कष्ट दूर हुआ। वे संतुष्ट हो अपने शिष्यों को अस्त्र-विद्या सिखाने लगे।

धनुर्वेद-विद्या में अर्जुन की विशेष उन्नति हुई। सूततनय कर्ण ने दुर्योधन का पक्ष ग्रहण किया और वे पांडवों का अपमान करने लगे किंतु कर्ण धनुर्विद्या में अर्जुन को परास्त न कर सके। आचार्य द्रोण अर्जुन के हाथ की सफाई देख बड़े प्रसन्न होते थे और वे अर्जुन को आग्रहपूर्वक शिक्षा दिया करते थे। अर्जुन जैसा सत् शिष्य पाकर आचार्य का परिश्रम सार्थक हुआ। धीरे धीरे अर्जुन बाण धनुष पर चढ़ाने, छोड़ने और रोकने में अपने गुरु की बराबरी करने लगा।

एक बार आचार्य ने अपने शिष्यों के लक्ष्य-भेद-कौशल की परीक्षा लेने के लिये एक ऊँचे वृक्ष की शाखा पर एक बनावटी पक्षी रखवाया। अनंतर सब राजकुमारों को एकत्र करके कहा—

द्रोण—वत्सगण ! तुम अपने अपने धनुषों पर बाण चढ़ाकर मेरे आदेश की प्रतीक्षा करो, मैं एक एक करके तुम्हारे हस्तलाघव की परीक्षा लूँगा। देखो, मेरा वाक्य पूरा होते न होते, वृक्ष की शाखा पर बैठे हुए उस पक्षी का सिर बेधो।

आचार्य के आज्ञानुसार सब से पहले युधिष्ठिर धनुष पर बाण रखकर खड़े हुए। तब आचार्य ने उनसे कहा—

द्रोण—वत्स ! क्या तुम वृक्ष पर बैठे उस पक्षी को देखते हो ?

युधिष्ठिर—भगवन् ! शकुंत को मैं देखता हूँ।

द्रोण—वत्स ! इस वृक्ष को, मुझे और अपने भाइयों को भी देखते हो ?

युधिष्ठिर—भगवन् ! मैं उस वृक्ष को, आपको, भाइयों को और उस पक्षी को देखता हूँ।

द्रोण—वत्स ! बस करो, तुम लक्ष्य-भेद नहीं कर सकते। तुम वहाँ से हट जाओ।

इसी प्रकार द्रोण ने दुर्योधनादि अन्य कुमारों को खड़ा किया और उनसे भी ऐसे ही प्रश्न किए, जिनके उत्तर भी उन कुमारों ने युधिष्ठिर जैसे ही दिए। फल यह हुआ कि द्रोणाचार्य की परीक्षा में वे सब अनुत्तीर्ण हुए।

सबसे पीछे द्रोण ने हँसकर अर्जुन से कहा—

द्रोण—बेटा ! अब इस लक्ष्य को तुम्हें बेधना होगा। अतएव धनुष पर बाण चढ़ाकर निर्दिष्ट स्थान पर खड़े हो।

अर्जुन गुरु के आदेशानुसार बाण चढ़ाकर खड़े हुए और वृक्ष-शाखा-स्थित पक्षी को देखने लगे। तब द्रोण ने पहले की भाँति उनसे पूछा—

द्रोण—बेटा! वृक्ष, वृक्षस्थ पक्षी, मुझे या भाइयों को तुम देखते हो?

अर्जुन—भगवन्! मुझे न तो वृक्ष दिखलाई पड़ता है, न आप, और न भाई ही मुझे दीख पड़ते हैं। मैं केवल पक्षी ही को देखता हूँ।

अर्जुन का उत्तर सुन आचार्य प्रसन्न हुए और उन्होंने फिर अर्जुन से पूछा—

आचार्य—बेटा! पक्षी का सब शरीर दीख पड़ता है?

अर्जुन—भगवन्! मुझे तो उसका मस्तक मात्र ही दीख पड़ता है।

आचार्य—अच्छा, लक्ष्य को विद्ध करो।

द्रोण की बात पूरी भी नहीं हो पाई थी कि अर्जुन ने बाण के द्वारा उस पक्षी का सिर काटकर पृथिवी पर डाल दिया। जो लोग वहाँ उपस्थित थे, वे अर्जुन का हस्तलाघव देख बहुत प्रसन्न हुए।

अस्त्र-परीक्षा में अर्जुन को उत्तीर्ण देख द्रोण उनको सर्वोत्कृष्ट धनुर्धर समझने लगे। द्रोण की शिष्य-मंडली में अर्जुन बाण चलाने में जैसे प्रवीण थे, वैसे ही वे असि चलाने और

रथ में बैठकर युद्ध करने में भी निपुण थे। लोकातीत बाहु-बल-शाली भीमसेन गदायुद्ध में प्रवीण समझे गए। नकुल और सहदेव असिचर्या में दक्ष समझे गए। दुर्योधन गदा-युद्ध में निपुण बतलाए गए। बुद्धि, उत्साह और तेजस्विता में अर्जुन ही सबसे बढ़कर निकले। अस्त्रविद्या में उनसे बढ़कर इस ससागरा पृथ्वी पर और कोई नहीं था। द्रोण ने अपने शिष्य अर्जुन की गुरु-भक्ति एवं अस्त्र-विद्या में असामान्य पार-दर्शिता देख प्रसन्न होकर कहा—"बेटा! इस मृत्युलोक में तुम्हारी टक्कर का दूसरा धनुर्धर न निकलेगा।"

इस प्रकार कुमारों को अस्त्र-विद्या की शिक्षा देकर द्रोण ने भीष्म को इस बात की सूचना दी कि—"कुमारों ने यथा-विधि शिक्षा प्राप्त कर ली है और अस्त्र-प्रयोग में वे निपुण हो गए।" आचार्य के मुख से यह बात सुन भीष्म बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने यथोचित विनय के सहित द्रोण से कहा—

भीष्म—भगवन्! आपके प्रसाद से मैं कृतार्थ हुआ। आपने कुमारों को अस्त्र-विद्या में पारदर्शी बनाकर हमारे कुल का बड़ा उपकार किया है। आप जैसे शिक्षादान में कुशल आचार्य के शिष्य होकर, कुमारों ने अस्त्र-विद्या में प्रवीणता प्राप्त की होगी, इसमें तिल भर भी संदेह नहीं। आप यह बात महाराज धृतराष्ट्र को जनाकर कुमारों द्वारा अस्त्रक्रीड़ा दिखाने की अनुमति लीजिए, क्योंकि महाराज की आज्ञा बिना अस्त्र-क्रीड़ा का प्रबंध नहीं हो सकेगा।

भीष्म के परामर्शानुसार एक दिन द्रोण ने यह बात धृतराष्ट्र के सामने उस समय छेड़ी जिस समय वहाँ भीष्म, विदुर आदि गण्य-मान्य सज्जन उपस्थित थे। द्रोण ने बात चलाकर कहा—

द्रोण—राजन्! कुमार अस्त्र-शस्त्र-विद्या में कृतविद्य हो गए। यदि अनुमति हो तो वे अपने अपने शिक्षा-कौशल का परिचय दें।

धृतराष्ट्र—(विनीत भाव से) भगवन्! आपने हमारा एक बड़ा भारी काम किया है। आपही की कृपा से हमारे कुमार अस्त्र-शस्त्र-विद्या में प्रवीण हुए हैं। आप जहाँ उचित समझें वहाँ बतलावें, रंगभूमि तैयार कर दी जाय। हमें आज अपने अंधे होने का पश्चात्ताप हो रहा है। विधाता ने हमें अंधा किया है, क्या करें हमें अपने कुमारों का अस्त्र-विद्या संबंधी नैपुण्य देखने का सौभाग्य प्राप्त न होगा। किंतु जो लोग कुमारों की अस्त्र-संचालन-चातुरी को देखकर प्रशंसा करेंगे, उसे सुन हम अत्यंत प्रसन्न होंगे।

यह कहकर धृतराष्ट्र ने विदुर को आज्ञा दी कि द्रोण के मतानुसार रंगभूमि तैयार करा दो। विदुर ने राजाज्ञा को शिरोधार्य करके और चतुर कारीगरों को बुलाकर द्रोणाचार्य के आज्ञानुसार सुविस्तृत रंगभूमि निर्माण करवा दी। उस रंगभूमि की सजावट का क्या कहना था। वह देखते ही बन आती थी। भिन्न भिन्न श्रेणी के लोगों के बैठने

के लिये अलग अलग बैठकों का प्रबंध था। अनंतर द्रोणाचार्य का निर्दिष्ट किया हुआ दिन उपस्थित हुआ और निर्दिष्ट समय पर रंगभूमि दर्शकों से भर गई, क्योंकि इस बात की सूचना पहले ही से सबको दे दी गई थी।

ठीक समय पर राजा धृतराष्ट्र भीष्म को आगे कर, मंत्रियों सहित रंगगृह में उपस्थित हुए। स्त्रियों के बैठने के लिये जो स्थान निर्दिष्ट था, वहाँ पर गांधारी और कुंती अपनी दासियों सहित जा बैठीं। इतने में बाजेवालों ने बाजे बजाकर दर्शक-मंडली का मनोरंजन करना आरंभ किया। रंगमंच पर रंग-बिरंगी पताकाएँ पवन के झकोरों से विचित्र शोभा धारण करने लगीं। समागत लोगों का कोलाहल वायु से ताड़ित महासागर के कोलाहल की बराबरी करने लगा। इतने ही में श्वेतांबरधारी, श्वेतकेश, सौम्यमूर्त्ति आचार्य द्रोण स्वकीय पुत्र अश्वत्थामा सहित रंगभूमि में पधारे। उनके आते ही रंगभूमि में सन्नाटा छा गया। दर्शक लोग द्रोण का प्रशस्त ललाट, तेज से भरे दोनों नेत्र, शरीर की विलक्षण गठन को चित्र जैसे लिखे मनुष्य की तरह इकटक निहारने लगे। वृद्ध आचार्य ने रंगभूमि में पहुँचकर, ब्राह्मणों द्वारा यथाविधान मांगलिक क्रिया का अनुष्ठान करवाया। तत्पश्चात् वे अपने निर्दिष्ट स्थान पर जा बैठे। पुण्य कार्य के समाप्त होने पर नौकर चाकर अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्र लेकर रंगभूमि में पहुँचे।

अनंतर सब कुमारों ने कमर कसकर ज्येष्ठ कनिष्ठ क्रम से रंगभूमि में प्रवेश किया। उनकी अँगुलियों में अंगुलित्राण (अँगुली को बचाने के लिये एक प्रकार के दस्ताने) थे, शरीर पर तरकस और हाथ में धनुष थे। उन सब ने भीष्म आदि गुरु जनों को प्रणाम किया और वे क्रीड़ाभूमि में एकत्र हुए। उनके वहाँ पहुँचते ही बड़ा कोलाहल हुआ। कोई तो अँगुली उठाकर पास बैठे हुए अपने साथी को सौम्यमूर्त्ति युधिष्ठिर को दिखाता था, कोई मोटे ताजे शरीरवाले भीमसेन के शरीर की गठन की श्लाघा करता था। कोई कोई अर्जुन के प्रभात काल के खिले हुए कमल सदृश मुखमंडल और नव-किशलय-दल-सदृश शरीर की कांति को देखकर प्रशंसा करता था। कुमार कभी अश्व पर, कभी रथ पर चढ़कर रंगभूमि में बड़े वेग से चक्कर लगाकर, अपने अपने नामांकित बाणों से लक्ष्य-भेद करने लगे। अनंतर उन लोगों ने परस्पर ढाल तलवार का युद्ध करके दिखलाया। तलवार की मूठ एक बार भी उनमें से किसी के हाथ से न गिरी। वे तलवार चलाकर अपने हाथ की सफाई निडर होकर दिखलाने लगे। रंग-मंडप में बैठे हुए दर्शक कुमारों की अस्त्र-चालन संबंधी प्रवीणता देख बड़े प्रसन्न हुए और मुक्त कंठ से उनकी प्रशंसा करने लगे। दुर्योधन और भीम, हाथों में गदा लेकर, एक दूसरे को लाल लाल नेत्रों से निहारते थे। आचार्य द्रोण ने यह देख अपने प्रिय पुत्र अश्व-त्थामा को भेजकर दोनों का क्रोध शांत करवाया।

तत्पश्चात् द्रोणाचार्य ने सभामंडप में खड़े होकर, जलद-गंभीर स्वर में, बाजों को बंद कराकर कहा—

द्रोणाचार्य—आज इस रंगभूमि में देश देशांतर के बड़े नामी वीर उपस्थित हैं साथ ही बहुत से हस्तिनापुर-वासी तथा अनेक अन्य नगरवासी भी उपस्थित हैं। मैं सबसे कहता हूँ कि मेरे निज पुत्र से भी बढ़कर मेरा प्यारा शिष्य अर्जुन धनुर्विद्या में निपुण है। इसकी जोड़ का दूसरा वीर पुरुष धराधाम पर नहीं है। असामान्य उत्साह और बुद्धि-कौशल दिखाकर यह मेरी शिष्यमंडली में सर्वोच्चस्थानीय हुआ है। इसने धनुर्विद्या में ऐसा अभ्यास बढ़ाया है कि जब यह बाण चलाता है तब देखनेवालों को यह नहीं जान पड़ता कि इसने कब बाण तरकस से निकाला, कब उसे रोदे पर रक्खा और कब छोड़ा। प्राणाधिक अर्जुन अब रंगभूमि में अस्त्र-प्रयोग-कौशल दिखलावेगा, उसे सब लोग ध्यानपूर्वक देखें।

यह कहकर द्रोणाचार्य बैठ गए। अर्जुन हाथ में शरासन लेकर रंगभूमि में खड़े हुए। उनके खड़े होते ही फिर कोलाहल हुआ। उसके साथ ही साथ फिर पूर्ववत् बाजे बजने लगे। दर्शकगण अर्जुन के नव-दूर्वा-दल-श्याम देह की कमनीयता और उस पर कठोर वर्म, भीषण शरासन, रक्त पीनेवाली असि और सुतीक्ष्ण बाणों की एकत्र मिलावट देख विस्मित भी हुए और प्रसन्न भी हुए। साथ ही अर्जुन की ओर उँगली उठाकर वे ऊँचे स्वर से यह भी कहते जाते थे "ये ही पांडवों में

तीसरे हैं, ये ही कौरवों के रक्षक हैं, ये ही अस्त्रविदों में श्रेष्ठ हैं।" इसी प्रकार सब लोग बारंबार ऊँचे स्वर से अर्जुन की प्रशंसा करने लगे।

पुत्रवत्सला कुंती प्राणाधिक पुत्र की प्रशंसा सुन अपने भाग्य को सराहने लगी। महामति भीष्म उस भीड़ में परम-स्नेहास्पद पांडवों की सुख्याति सुनकर बहुत प्रसन्न हुए। धृतराष्ट्र भी विदुर के मुख से यह सुनकर कि अर्जुन की लोग प्रशंसा कर रहे हैं, बहुत प्रसन्न हुए।

अनंतर उस कोलाहल के निवृत्त होने पर आचार्य के आदेशानुसार अर्जुन अनेक प्रकार कौशल दिखाने को उद्यत हुए। वे अपने अपूर्व शिक्षा-बल से, कभी आग्नेयास्त्र, कभी वारुणास्त्र, कभी वायव्यास्त्र छोड़कर, कभी आग लगाते, कभी पानी बरसाकर उसे बुझाते और कभी हवा चलाकर मेघराशि को दूर कर देते थे। कभी रथ पर बैठकर, कभी पैदल वे सूक्ष्म और स्थूल लक्ष्यों को विद्ध करते थे। अनंतर तेज़ दौड़ते हुए लोहमय वराह के मुख में, एक साथ धनुष पर पाँच बाण रखकर उन्होंने मारे। इसी प्रकार अर्जुन ने तलवार चलाने में भी हाथ की सफाई दिखलाई। दर्शक लोग चित्र लिखे की तरह चुपचाप अर्जुन की हस्तलघुता देखने लगे। अर्जुन के सुकुमार शरीर में असाधारण तेजस्विता और कम-नीय कर-पल्लवों की अपूर्व दृढ़ता का परिचय पाकर उनके आश्चर्य की सीमा न रही। अर्जुन ने एक एक करके सब

अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग दिखलाया। तब तो दर्शक लोग ऊँचे स्वर से बारंबार "वाह वाह" कहने लगे। एक साथ कई सहस्र लोगों के मुख से निकले हुए "वाह वाह" की ध्वनि से बाजों का शब्द दब गया।

अर्जुन के अस्त्र-प्रयोग-नैपुण्य को देख भीष्म बहुत प्रसन्न हुए और वे द्रोण के निकट यथोचित कृतज्ञता प्रकट करने लगे। युधिष्ठिर सबसे बड़े और सब गुणों से अलंकृत थे। वे यथाविधि राजपद पर प्रतिष्ठित होकर राज्यशासन और प्रजापालन करें—अब भीष्म यही चाहने लगे। इधर सब पुरवासी और जनपदवासी, क्या सभा-मंडप में, क्या चबूतरों पर और क्या खेतों में सर्वत्र कहने लगे—"युधिष्ठिर ही राजा होने के सर्वथा उपयुक्त हैं। भीष्म तो राज्य न करने की प्रतिज्ञा कर ही चुके हैं। साथ ही वे सत्यप्रतिज्ञ और दृढ़व्रत हैं। आरंभ ही से वे अपनी प्रतिज्ञा का पालन करते चले आ रहे हैं। चंद्र और सूर्य के उदय अस्त की दिशाएँ भले ही बदल जायँ, पर उनकी अटल प्रतिज्ञा में तिल भर भी परिवर्त्तन नहीं हो सकता। जन्मांध धृतराष्ट्र के पहले ही जब वे राजा न बने, तब अब वे राजा क्यों होने लगे? युधिष्ठिर जैसे धर्मवत्सल, जैसे सत्यव्रत और जैसे करुणा-संपन्न हैं, उस पर विचार करते हुए, वे भीष्म अथवा सपुत्र धृतराष्ट्र को कभी किसी वस्तु का कष्ट नहीं दे सकते। अतः हम लोग युधिष्ठिर ही को राजगद्दी पर बैठे हुए देखकर प्रसन्न होंगे।"

पुरवासियों के मुख से यह सुन भीष्म बहुत ही प्रसन्न हुए। मारे आनंद के उनकी आँखें आँसुओं से भर गईं। आनंद के आँसू बहाते हुए पुरवासियों को संबोधन कर भीष्म कहने लगे—

भीष्म—मैंने सबसे पहले कुमारों को सुशिक्षित बनाना चाहा था। वह मेरी इच्छा आज पूरी हुई। सर्वज्येष्ठ युधिष्ठिर सर्व-गुण-संपन्न हैं, इससे हमें पूरी आशा है कि वे प्रजापालन-कार्य करते हुए अवश्य यशस्वी होंगे। पांडु स्वर्गवासी हो चुके हैं, माता सत्यवती और भाग्यवती अंबिका और अंबालिका भी परम-पद को प्राप्त हो चुकी हैं। मैं स्वयं राजपद परित्याग-कर प्रजा-श्रेणी में मिल गया हूँ। प्रजा-धर्म-पालन के लिये ही मैंने न तो योगमार्ग का आश्रय ग्रहण किया और न शांत तपोवन में रहकर तापसवृत्ति ही का अनुसरण किया। युवा-वस्था ही में मेरी सब विषय-वासनाएँ अंतर्हित हो चुकी हैं और मैंने अखंड एवं पवित्र ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया है। अब मैं बूढ़ा हो चला हूँ। मेरे केश पक चले हैं, शरीर भी धीरे धीरे शिथिल होता जाता है। मैं कुरुराज का आज्ञानु-वर्त्ती होकर, उनके हितकर कार्यों के करने के अर्थ ही जीवन धारण किए हूँ। युवावस्था में पितृदेव के सामने जिस धर्म में मैं दीक्षित हुआ था बुढ़ापे में भी उसी धर्म को पाल रहा हूँ। अब एक यही अभिलाषा और रह गई है कि युधिष्ठिर राज-गद्दी पर बैठें, अन्य राज्यों के भूपतिगण उनके सामने मस्तक

नवावें, प्रजा के लोग उन्हें देवता जानकर उनकी पूजा करें! बस इतना देखकर ही मैं कृतकृत्य हो जाऊँगा। मैंने एक समय जिसे गोद में रखकर खिलाया है, जिसकी तोतली बातें सुन बार बार मुख चुंबन किया है, जिसके पढ़ाने लिखाने में मैंने कोई बात उठा नहीं रक्खी, जिसको सदा अपनी देख-रेख में रखकर सन्मार्ग में प्रवृत्त कर पाया है, उसी का अब मैं आज्ञाकारी बनकर उसको प्रसन्न करना चाहता हूँ। यही मेरा परम धर्म है, यही मेरा परम तप है।

भीष्म की इस प्रकार की धर्मसंगत और उदारतापूर्ण बातें सुन पुरवासी परम संतुष्ट हुए। किंतु इन बातों को सुन दुर्योधन के हृदय में डाह की आग धधकने लगी। युधिष्ठिर की प्रशंसा सुन उसे ऐसा बुरा लगता मानों कोई उसके कानों में विष की बुझी सलाई से करोद रहा हो। उसने पुरवासियों के प्रस्ताव को सुन प्रसन्नता प्रगट न की, किंतु उसका हृदय जलने लगा। मन ही मन प्रतिज्ञा की कि जब तक दम में दम है तब तक युधिष्ठिर अथवा उसके भाइयों में से किसी को भी हस्तिनापुर की राजगद्दी पर कभी न बैठने दूँगा। उधर दुर्योधन की तो यह गति थी और इधर स्वयं धृतराष्ट्र पांडवों का उत्कर्ष और अपने पुत्रों का अपकर्ष जानकर दुखी थे। बलवती परोत्कर्ष-असहिष्णुता ने उनके मन की शांति को नष्ट कर डाला। तीव्र विद्वेष-विष से उनकी मनोगत साधुता दूषित हो गई। दुर्मति दुर्योधन के आत्म-दुर्गति-ज्ञापक वाक्यों से

उनके हृदय से प्रीति और स्नेह विलुप्त हो गए। जिन पांडु की राज्यप्राप्ति से एक बार धृतराष्ट्र आनंद-सागर में निमग्न हो गए थे इस बार वे ही धृतराष्ट्र पांडवों के सौभाग्यरूपी सूर्योदय के प्रकाश से विकल हो, दया धर्म को विसर्जन कर बैठे। संतान का स्नेह यदि न्यायानुमोदित न हुआ तो वह साधुहृदय को भी इसी प्रकार कलुषित कर डालता है।

पाँचवाँ अध्याय

पांडवों का विवाह और राज्य-प्राप्ति

युधिष्ठिर के राज्याभिषेक के प्रस्ताव से दुःखित होकर दुर्योधन अपने पिता के पास गया और पिता को एकांत में बैठा पाकर उनको प्रणाम कर कहने लगा—

दुर्योधन—पितृदेव ! पुरवासी आपको हटाकर, युधिष्ठिर को गद्दी पर बिठाना चाहते हैं। बूढ़े बाबा भीष्म स्वयं राज्य-भोग से पराङ्मुख होकर, इस प्रस्ताव का अंतःकरण से अनुमोदन करते हैं। पुरवासियों के मुख से यह अश्रद्धेय बात सुनकर मुझे बड़ा भारी दुःख हो रहा है। आप ज्येष्ठ होकर भी अंधे होने के कारण राज्य नहीं पा सके, इसी से चाचा पांडु अवस्था में आपसे छोटे होने पर भी राजगद्दी पर बिठाए गए। अब यदि युधिष्ठिर को पैतृक राज्य दिया गया, तो ऐसा होने से तो उनके पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र ही सदा इस विशाल राज्य का सुख भोगा करेंगे। हम लोग राजवंशीय होकर भी प्रजा की दृष्टि में हीन समझे जायँगे। जो दूसरे के दिए हुए अन्न से पेट भरता है उसकी दुर्दशा का कहना ही क्या है ? जिस प्रकार इस लोक में ऐसे मनुष्य की दुर्दशा और उसका अनादर होता है, उसी प्रकार मरने पर भी उसे नरक में गिरना

पड़ता है। हम जिससे इस लोक और परलोक के कष्टों से निस्तार पावें, आप ऐसा कोई उपाय बतलाइए।

दुर्योधन की बातें सुन धृतराष्ट्र ने उसाँसें भरीं और कुछ देर के लिये गर्दन नीची कर ली। युधिष्ठिर राजा होगा, और धृतराष्ट्र के पुत्रों का जीवन-निर्वाह उसकी प्रसन्नता पर निर्भर रहेगा, यह विचार कर धृतराष्ट्र मृतक के समान हो गए। उनका अप्रसन्न मुखमंडल उनकी गंभीर दुश्चिंता का परिचय देने लगा। उपस्थित प्रश्न की मीमांसा किस प्रकार करनी उचित है, इसका वे सहसा कुछ निर्णय न कर सके। उनका मन डावाँडोल हो गया। दुर्योधन के दुःशासन प्रभृति दुर्मति भाइयों ने, शकुनि आदि कुमंत्रियों के साथ परामर्श करके पांडवों को वारणावत नगर में भेजकर, उन्हें जलाकर भस्म करने के लिये षड्यंत्र रचा था। इस समय पिता को उदास देख दुर्योधन प्रसन्न हुआ और उपयुक्त अवसर समझ कहने लगा—

दुर्योधन—तात ! यदि आप कौशलपूर्वक पांडवों को एक बार वारणावत भेज सकें तो फिर किसी प्रकार झगड़ा टंटा ही न रहने पावे।

यह सुन धृतराष्ट्र ने कुछ क्षण तक विचार किया। अनंतर वे बोले—

धृतराष्ट्र—वत्स ! तुमने जो कहा, वह हम समझ गए। और हम भी यही चाहते तो हैं, पर पांडु बड़ा धर्मात्मा था। उसने बंधु बांधवों और विशेषकर हमारे साथ सदा सद्व्यवहार

किया। यही नहीं, किन्तु वह स्वयं विषय-भोग से विरक्त होकर अनेक प्रकार की भोग्य वस्तुओं से हमें तृप्त किया करता था! वह ऐसा सरल और भ्रातृवत्सल था कि कैसा ही राजकीय कार्य क्यों न हो, बिना हमसे परामर्श लिए कभी कोई काम नहीं करता था। उसका पुत्र युधिष्ठिर भी ठीक उसी की तरह धर्मपरायण, गुणवान् एवं पुरवासी और जनपदवासियों का प्रीति-भाजन है। तिस पर वह तुम सबसे बड़ा है और यह राज्य भी उसका पैतृक है। उसे हम किस प्रकार यहाँ से निर्वासित करें? यदि ऐसा किया भी तो सब मंत्री और शूर सामंत पांडु के उपकारों को स्मरण कर हमारे विरुद्ध खड़े हो जायँगे। चाचा भीष्म, द्रोणाचार्य और धर्मवत्सल विदुर इस बात पर कभी राजी न होंगे। सारे कौरव हमें और पांडु को एक दृष्टि से देखते हैं। वे कभी हम लोगों का पांडवों पर अत्याचार न सह सकेंगे। सब लोग हमारे विरुद्ध हो जायँगे! हम कौरवों और अपने मंत्रियों के विराग-भाजन बनकर बड़े भारी संकट में पड़ जायँगे।

पिता की बातें सुनकर दुर्योधन न तो निराश हुआ, और न उसकी बलवती हिंसा एवं प्रबल ईर्ष्या ही दूर हो पाई। दुर्योधन ने पांडवों के नाश का पक्का संकल्प मन में करके फिर पिता से कहा—

दुर्योधन—पिता! आप जो आज्ञा करते हैं, वह ठीक तो है, किंतु अर्थ-दान द्वारा कौरवों को हम अपने पक्ष में कर

सकते हैं। इस समय राज्य की सारी संपत्ति आप ही के हाथ में है और मंत्री भी आप ही के अधीन हैं। पितामह भीष्म भी दोनों ही ओर हैं। अश्वत्थामा हमारे कहे में है और द्रोणाचार्य कभी अपने पुत्र के विरुद्ध न होंगे। यद्यपि विदुर पांडवों ही का पक्ष लेते हैं, तथापि वे अकेले हमारा कर ही क्या सकते हैं? आप किसी बात की चिंता न करके पांडवों को वारणावत भेज दें। सारा साम्राज्य हमारी मुट्ठी में आ जायगा। वे फिर यहाँ लौटकर न आ सकेंगे।

धृतराष्ट्र दुर्योधन की बातों के जाल में ऐसे फँसे कि उन्हें अच्छे बुरे का कुछ भी ज्ञान न रहा और वे पांडवों को वारणावत भेजने को उद्यत हो गए। उधर घूँस दे देकर दुर्योधन ने मंत्रियों और सेनापतियों को अपनी ओर कर लिया। कूटनीति-परायण मंत्री धृतराष्ट्र के निदेशानुसार पांडवों के सामने कहने लगे—

मंत्री—वारणावत परम रम्य स्थान है। इस भूमंडल पर वैसा मनोहर नगर दूसरा है ही नहीं। इस समय वहाँ भूतभावन भगवान् उमापति का उत्सव भी होता है। इस उत्सव के समय वहाँ देश देश के तीर्थयात्री और व्यापारी एकत्र होते हैं। वहाँ के आमोद प्रमोद का क्या कहना है। तरह तरह की वस्तुओं के एकत्र होने तथा अनेक प्रदेशों के लोगों के वहाँ एकत्र होने से वहाँ के वैभव की तुलना जगत् में अन्य किसी स्थान से हो ही नहीं सकती।

विधना का विधान अमिट है। मंत्रियों के मुख से वारणावत का ऐसा निरूपण सुन, पांडवों की इच्छा वहाँ जाने की हुई। जब धृतराष्ट्र को यह बात जान पड़ी कि पांडव वारणावत देखने के लिये उत्सुक हैं, तब उन्होंने उनसे कहा—

धृतराष्ट्र—नित्य सब लोग हमसे कहते हैं कि इस संसार में वारणावत सबसे बढ़कर रम्य स्थान है। यदि वहाँ जाकर उत्सवादि देखने की तुम्हारी अभिलाषा हो तो तुम सपरिवार वहाँ जाकर वहाँ का मेला देख सकते हो। वहाँ सुखपूर्वक कुछ दिनों रहकर फिर हस्तिनापुरी को लौट आना।

युधिष्ठिर झट धृतराष्ट्र का यथार्थ अभिप्राय जान गए। किंतु वे कर ही क्या सकते थे। अपने को नितांत असहाय देख "जो आज्ञा" कहकर वारणावत जाने को उद्यत हो गए। अनंतर वे भी भीष्म आदि गुरुजनों के समीप जाकर बोले—

युधिष्ठिर—हम अपने परमपूज्य चाचाजी के आज्ञानुसार वारणावत जाते हैं। आप आशीर्वाद दीजिए जिससे अमंगल न हो और हम किसी प्रकार के पापकर्म में न फँसें।

युधिष्ठिर ने एक एक करके भीष्म, द्रोण, विदुर और गांधारी के पास जाकर विदा माँगी। सबने बड़े स्नेह के साथ उन्हें आशीर्वाद दिया। इस प्रकार बड़ों को प्रणाम कर युधिष्ठिर अपनी माता कुंती और अपने चारों भाइयों को लिए हुए वारणावत की ओर प्रस्थानित हुए। जाते समय

विदुर ने म्लेच्छ भाषा में (जिससे दूसरे न समझ सकें) दुर्योधन की दुरभिसंधि का सारा मर्म समझाकर उन्हें सावधान कर दिया। युधिष्ठिर ने यह कहकर कि "हम समझ गए" वारणावत में सतर्क रहने की सूचना दी।

बिना जाने बूझे दुर्निवार आपस में कलह उपस्थित देख भीष्म बहुत दुखी हुए। दुर्योधन के पापाचरण और धृतराष्ट्र की पाप-प्रवृत्ति को देख भीष्म मारे चिंता के विकल हो उठे। पिछली सारी घटनाएँ एक एक करके उनकी आँखों के सामने नाचने लगीं। विचित्रवीर्य का पालन-पोषण, स्नेहपूर्वक धृतराष्ट्र और पांडु को पढ़ाना लिखाना, युधिष्ठिरादि कुमारों का पालना-पोसना आदि बातों को स्मरण करते ही उनके नेत्रों में आँसू भर आए! जिस पांडु ने अपने सुख की ओर कभी आँख उठाकर भी न देखा, और जो सदा इसी यत्न में लगा रहा कि मेरे भाई धृतराष्ट्र कभी किसी बात से असंतुष्ट न होने पावें, स्वयं इतने बड़े राज्य का हर्त्ता कर्त्ता विधाता होकर भी जो बिना धृतराष्ट्र से परामर्श लिए तिनका भी नहीं टालता था, इस समय धृतराष्ट्र उसी पांडु के पुत्रों के साथ नीचता करने को उद्यत हैं! दुर्योधन की कुमंत्रणा से पांडवों के प्राणों को संकटापन्न जानकर, भीष्म बहुत ही अधिक दुखी और संतप्त हुए। हाथ से लगाए हुए वृक्ष में कड़ुए फल लगने पर जैसा कष्ट होता है वैसा ही कष्ट भीष्म को दुर्योधन के दुराचारों को देखकर हुआ। समय का

सहसा ऐसा विषम परिवर्तन देख भीष्म सन्नाटे में आ गए। वे पछताते हुए मन ही मन कहने लगे—"हाय! मैंने पांडु आदि को पालने-पोसने का भार क्यों लिया? क्यों मैं हस्तिनापुरी छोड़कर वनवासी न हुआ? क्यों मैंने माता सत्य-वती का साथ न दिया? मैंने क्यों कुरुकुल के अन्न से अपना पेट भरा? मुझे क्या पड़ी थी जो इतने दिनों तक इस झंझट में फँसा रहा? अब क्या करूँ? क्योंकर इस हृदय-विदारक आत्म-विरोध को देखूँ? मेरा जीवन सदा कष्टमय ही बीता! न तो दिन में चैन मिलता है और न रात में नींद ही आती है। मेरा शरीर रात-दिन मानों तुषानल में जल रहा है। मैंने राज्य छोड़ा! राजकीय किसी भी कार्य में हस्तक्षेप करने का अधिकार भी गँवाया! जान पड़ता है विधाता ने मुझे अभी इसी लिये जीवित रख छोड़ा है कि मैं परस्पर-विरोध के कारण अपने कुल का विध्वंस अपने नेत्रों से और देख लूँ।" भीष्म इस प्रकार की मानसिक वेदना से अधीर हो-कर बारंबार पछताने लगे।

दुःखितमन भीष्म हस्तिनापुरी में रहकर दिन काटने लगे। उधर युधिष्ठिरादि पांडव वारणावत में पहुँचे। नगर-वासियों ने बड़े आदर से उनकी अभ्यर्थना की। समदर्शी युधिष्ठिर को अहंकार छू भी नहीं गया था, उन्होंने यथाक्रम ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तक के घरों पर जाकर उनसे बातचीत की और उन्हें अपने इस सरल व्यवहार से अपने वश में कर

लिया। वारणावत में लाक्षादि भवन बनाने के अर्थ दुर्योधन ने पुरोचन नामक एक दुष्ट को पहले ही से वहाँ भेज दिया था। दुर्योधन के आदेशानुसार पुरोचन बनावटी सौजन्य दिखा-कर, पांडवों को उस रमणीय भवन में लिवा ले गया और उसने हर प्रकार के भोजनादि वहाँ प्रस्तुत किए। युधिष्ठिर, पुरोचन की सारी चालाकी समझ तो गए थे, किंतु उन्होंने उससे कुछ भी न कहा। वे माता और भाइयों सहित निर्दिष्ट स्थान में रहने लगे। दस दिन बीतने पर, पुरोचन पांडवों से नए भवन में रहने के लिये अनुरोध करने लगा। तब युधिष्ठिर माता और भाइयों सहित पुरोचन के कथनानुसार उस नए घर में गए। वहाँ पहुँचते ही उन्हें लाख, घी, चर्बी आदि की गंध मिली, जिससे वे जान गए कि यह भवन किस विशेष उद्देश्य से बनाया गया है। यह जानकर भी पांडवों ने पुरोचन के सामने कोई संदेह-जनक बात न कही। पुरोचन यद्यपि अविश्वस्त था, तथापि वे उसके साथ ऐसा बर्ताव करते जैसा कोई अपने बड़े विश्वासी के साथ करता है। मन में उस पर असंतुष्ट होकर भी उस पर यह बात प्रकट नहीं होने देते थे। किंतु चुपके चुपके वे आत्मरक्षा का उपाय सोचने लगे। हस्तिनापुर से एक विश्वासी मनुष्य आया जिसने पुरोचन से छिपकर उस घर में, घर से बाहर निकलने के लिये, एक सुरंग खोदकर तैयार कर दी। उधर पुरोचन पांडवों को प्रसन्न और असंदिग्ध देखकर बहुत

प्रसन्न हुआ, और उस भवन में आग लगाने के अवसर की प्रतीक्षा करने लगा। पांडवों ने इसके पहले ही उस सुरंग में होकर भाग जाने का आपस में परामर्श किया।

एक दिन अँधेरी रात में, जिस समय सारे वारणावत-वासी प्रगाढ़ निद्रा में थे, पवन कभी किसी वृक्ष की शाखा को हिलाकर, कभी शाखा-स्थित पक्षियों के सुख में बाधा डालकर, कभी जन-कोलाहल-शून्य नगर के सन्नाटे को भंग करके चल रही थी, और पुरोचन कोमल शय्या पर पड़ा सो रहा था, उसी समय भीमसेन ने पुरोचन के शयनगृह के द्वार पर आग लगा दी। देखते देखते अनुकूल पवन पाकर आग उस घर के चारों ओर फैल गई। उधर पांडव माता-सहित उस सुरंग में होकर उस घर के बाहर निकल गए। थोड़ी ही देर बाद प्रचंड अग्नि की शिखा आकाश से बातें करने लगी। चटाचट की आवाज से चारों दिशाएँ व्याप्त हो गई। अँधेरी रात में अनलस्तूप का दुगुना उजियाला हुआ जिससे सारे वारणावत नगर में प्रकाश हो गया। पुरवासीगण चौंक चौंककर अपनी अपनी शय्या छोड़कर उठ खड़े हुए। उन्होंने देखा कि जतुगृह को कराल अग्निदेव भस्म कर रहे हैं और पवन की सहायता पाकर घर के बाद घर फूँकते चले जाते हैं। इस भयंकर लंकाकांड को देखकर उनके मनस्ताप की सीमा न रही। पांडव माता-सहित सकुशल उस घर से निकल चुके हैं, यह बात उनमें से किसी को भी विदित न थी!

इसलिये सब यही समझ बैठे कि माता-समेत पाँचों पांडव उस भवन के साथ ही जल भुनकर राख हो गए। यह जानकर पुरवासी सिर धुन धुनकर रोने और विलाप करने लगे। जब सवेरा हुआ तब वे उस घर की राख में पांडवों की हड्डियाँ ढूँढ़ने लगे। अभाग्यवश एक केवटनी अपने पाँच पुत्रों सहित उस घर में उसी रात को आकर टिक गई थी। उसकी और उसके पाँचों पुत्रों की खखड़ियाँ उन लोगों ने देखीं, जिससे उन्हें विश्वास हो गया कि पाँचों भाई माता समेत जल गए। उसी समय उस सुरंग खोदनेवाले विश्वासी मनुष्य ने राख से उस सुरंग के द्वार को बंद कर दिया। इसका पता किसी भी पुरवासी को न चलने पाया। पुरवासियों ने पुरोचन का भी दग्ध कंकाल देखा। अनंतर सब लोग पांडवों की अकाल मृत्यु से शोकान्वित हुए और इस घटना का संवाद धृतराष्ट्र के पास भेजा गया। धृतराष्ट्र ने कृत्रिम शोक प्रकाश करते हुए भाई बंदों के साथ पांडवों को तिलांजलि दी।

उधर युधिष्ठिर माता और भाइयों-सहित लाक्षादि भवन से निकलकर चुपके चुपके भागीरथी के तट पर पहुँचे और नाव में बैठ उस पार के सघन वन में घुस गए। इस समय वे इस अरण्य के राजा हैं, उस वन के वृक्ष की जड़ ही उनका भवन है, और बनैले फल मूल ही उनके भोजनों की सामग्री है। जो सुरम्य राजप्रासाद में रहते थे, जो विचित्र वेशभूषा से सुसज्जित होकर अनेक प्रकार के राजसी भोग भोगा करते थे,

वे ही आज दीन हीन होकर जंगल में मारे मारे घूम रहे हैं। उनके दुःखों की आज सीमा नहीं है। कहीं दुरात्मा दुर्योधन को उनका पता न लग जाय, इसी डर से वे भेष बदलकर भिक्षा माँगते हुए इधर उधर मारे मारे फिर रहे हैं। भिक्षान्न से ज्यों त्यों कर वे अपना पेट भर लिया करते हैं। इस प्रकार भिक्षा-जीवी ब्राह्मणों का वेश बनाए वे एकचक्रा नगरी में एक दरिद्र ब्राह्मण के घर में जाकर रहने लगे।

उन्हीं दिनों पांचाल राज्य के अधिपति द्रुपद अपनी तनया कृष्णा के स्वयंवर के उद्योग में लगे हुए थे। उस समय कृष्णा के समान लावण्यवती कुमारी दूसरी नहीं थी। रूप-माधुरी से कृष्णा रमणी-समाज की सिरमौर थी। असामान्य रूप-निधान यह कन्या-रत्न किसी धनुर्वेद-विशारद उपयुक्त पात्र के हाथ लगे, यह विचार कर पांचाल-राज ने नृपति-समाज में यह घोषणा करवा दी थी कि जो वीर एक साथ पाँच बाणों से निर्दिष्ट लक्ष्य वेध करने में समर्थ होगा, वही पांचाल-लक्ष्मी कृष्णा का पाणिग्रहण कर सकेगा। यह संवाद पाकर नाना देशों के नरपति पांचाल देश की स्वयंवर-सभा में उपस्थित हुए थे। ब्राह्मण-वेशधारी पांडव भी ब्राह्मणों के साथ पांचाल में गए और सभामंडप में ब्राह्मण-मंडली के बीच में जा बैठे।

पांचाल-राज ने नगर के बाहर एक लंबे चौड़े मैदान में सभामंडप बनवाया था। सभागृह प्राकार और परिखा से

वेष्टित था और बहुत ही अच्छी रीति से सजाया गया था। स्थान स्थान पर तोरणराजि विराज रही थी, उसके चारों ओर सुधा-धवलित प्रासाद-समूह, तुषार-जाल-समाच्छन्न हिमगिरि की तरह, शोभा पा रहे थे। तुरही बज रही थीं। अनेक देशों के भूपाल विचित्र वेश-भूषा से सज्जित होकर मणिमय मंचों पर बैठे हुए थे। दूसरी ओर पुरवासी और जनपदवासियों के बैठने का स्थान था। वे वहाँ से बैठे बैठे स्वयंवर-सभा की शोभा देखकर प्रसन्न हो रहे थे। ब्राह्मणों ने यथास्थान बैठकर स्वस्तिवाचन किया। पांडव भी दरिद्र ब्राह्मण का वेश बनाए उन्हीं के साथ बैठे थे। दूसरी ओर एक सुंदर मंच पर, भूपालों की श्रेणी में, दुर्योधनादि कौरव बैठे हुए थे।

अनंतर मंत्रवित् पुरोहित के यथाविधि मंगलाचार कर चुकने पर कृष्णा नख से शिख तक सुंदर और समयोचित शृंगार किए हुए और हाथ में कांचन-मय वरमाला लिए हुए अपने भाई धृष्टद्युम्न के साथ सभामंडप में आई। सभा में बैठे हुए दर्शकगण यह देखने को उत्सुक हुए कि देखें इन राजाओं में से किसका भाग्य आज जागता है। पांचाल राजकुमार ने द्रौपदी के पास खड़े होकर, बड़ो कड़क के साथ, कहा—

धृष्टद्युम्न—ये पाँचों तीर और यह धनुष रक्खा है। वह देखो, ऊपर कृत्रिम मछली लटक रही है और उसके नीचे यंत्र-

मध्यस्थ छिद्र दिखलाई पड़ता है। जो कोई उस मछली का प्रतिबिंब जल में देखकर यंत्रस्थित छिद्र में होकर पंच शर द्वारा लक्ष्य को वेध सकेगा, आज हमारी भगिनी कृष्णा उसी के गले में वरमाला समर्पण करेगी।

यह कहकर धृष्टद्युम्न चुप हो गया। सभा में बड़ा कोलाहल मचा। सब लोगों ने लक्ष्य-वेध देखने को गर्दनें उठाईं। जब कोलाहल बंद हुआ तब एक एक करके राजा लोग उठे और लक्ष्य वेध करने को खड़े हुए, किंतु लक्ष्य-वेध की बात तो दूर रही, उनमें से कोई भी उस धनुष को नवा-कर उस पर रोदा तक न चढ़ा सका। दुर्योधन भी धनुष पर रोदा न चढ़ा सके। महामति भीष्म तो विवाह न करने की प्रतिज्ञा पहले ही कर चुके थे। इसलिये वे उस वृथा परिश्रम में क्यों पड़ते। किंतु ऐसे समय में उन्हें वीर पांडवों का स्मरण हो आया और स्मरण होते ही वे दुखी हुए।

बड़े बड़े वीर राजा जब एक एक करके हतोद्योग हो गए, तब अर्जुन से न रहा गया। वे ब्राह्मण-मंडली के बीच में खड़े हो गए। अर्जुन को उस बनावटी वेश में दुर्योधनादि उनके आत्मीय भी न पहचान पाए। उधर ब्राह्मणवेशधारी अर्जुन को लक्ष्य-वेध करने को उद्यत देख ब्राह्मण-मंडली कोलाहल मचाने लगी। उनमें से कोई कोई कहने लगे—"बड़े बड़े धनुर्वेद-विशारद महारथी जिस शरासन को झुका तक न सके, अस्त्र-

विद्या से अनभिज्ञ यह दुर्बल ब्राह्मण-कुमार कैसे उस पर रोदा चढ़ावेगा ? यह कुमार चपलतावश इस दुष्कर काम में हाथ डालता है और इस भूपति-समाज में हम लोगों की हँसी कराना चाहता है।" किसी ने कहा—"यह ब्राह्मण-कुमार जैसा श्रीसंपन्न है, वैसा ही देह का भी तगड़ा है और उत्साही जान पड़ता है। इसके अध्यवसाय पर विचार करने से जान पड़ता है कि यह कृतकार्य होगा।" ब्राह्मण जिस समय इस प्रकार आपस में बातचीत कर रहे थे उस समय अर्जुन अटल भाव से शरासन के समीप खड़े थे। अब उन्होंने धीरे धीरे उस धनुष को उठाया और देखते देखते उस पर रोदा भी चढ़ा दिया। अनंतर उस पर पाँचों तीर रख और जल में उस मछली की परछाईं देखकर लक्ष्य को विद्ध किया। बनावटी मछली झट पृथिवी पर गिर पड़ी। यह देख उस सभा में बड़ा भारी कोलाहल हुआ। ब्राह्मण लोग अपने अपने दुपट्टे हिला हिलाकर आनंद प्रकाश करने लगे। बाजेवाले बड़े उत्साह के साथ बाजे बजाने लगे। सुकंठ मागधगण, मधुर स्वर से, स्तुति पाठ करने लगे। मंचों पर बैठे नृपति नीची गरदनें कर अपने को धिक्कारने लगे। कृष्णा वरमाला उठाकर लक्ष्य-वेध-कारी पार्थ के पास गईं।

कन्यारत्न किसके हाथ में गया—पहले तो पांचालराज न जान पाए, पीछे जब उन्होंने जाना कि कन्या का पाणिग्रहण किसी अज्ञात-कुलशील व्यक्ति ने किया है, तब वे मृतक के

६

समान हो गए। किंतु अंत में जब उन्हें यह बात विदित हुई कि धनुर्वेद-विशारद पार्थ ने लक्ष्य-भेद-पूर्वक कन्यारत्न पाया है, तब तो उनके आनंद की सीमा न रही। उनकी राजधानी में उत्सवों की धूम मच गई। पुरवासी अनेक प्रकार के प्रमोद करने लगे। युधिष्ठिर ने जब अधिक दबाव डाला तब द्रुपद ने पाँचों पांडवों के साथ कृष्णा का विवाह कर दिया। युधिष्ठिरादि पांडव द्रुपद के भवन में द्रौपदी का पाणिग्रहण कर परम सुखपूर्वक काल यापन करने लगे।

माता-समेत पांडव जीवित हैं, अर्जुन ने लक्ष्यभेद करके पाँचों भाइयों सहित द्रौपदी के साथ विवाह कर लिया है— यह संवाद धीरे धीरे चारों ओर फैल गया। हस्तिनापुर-वासियों ने भी लोगों के मुख से यह संवाद सुना। यह सुन भीष्म के आनंद की तो सीमा ही नहीं रही। इतने दिनों तक पांडवों के वियोग के दुःख में वे भीतर ही भीतर घुले जाते थे। इतने दिनों तक वे प्रसन्न होना भूल से गए थे। उनके मुखमंडल पर कालिमा सी छा गई थी। वे अपने कुल की अधोगति देखकर मृतक-समान हो गए थे। धृतराष्ट्र अथवा दुर्योधन के आदेश के विरुद्ध कोई काम करने का उन्हें अधिकार न था। असामान्य क्षमताशाली होकर भी वे चुपचाप राजकीय गर्हित कामों को देखा करते थे। यद्यपि दुर्योधन उनके कहने में नहीं था, तथापि वे उसे सिंहासन से उतारने का उद्योग नहीं करते थे। अन्नदाता, प्रतिपालक, प्रभु

के विरुद्ध काम करना भीष्म महापाप समझते थे। उनका लोकोत्तर चरित बड़ा पवित्र था। उनके प्रत्येक कार्य में उनका महत्त्व, स्वार्थत्याग और महीयसी कर्त्तव्यबुद्धि का परिचय मिलता है। पांडवों के साथ जो असद् व्यवहार दुर्योधन की ओर से होते थे उन्हें देख सुनकर भीष्म मर्माहत तो होते थे, किंतु धैर्य्य अथवा सहिष्णुता को नहीं छोड़ते थे। इस समय पांडव माता-सहित निरापद् और अक्षतशरीर ससुराल में सुखपूर्वक समय बिता रहे हैं, विशेष-कर अर्जुन ने सब राजाओं को स्वयंवर-सभा में नीचा दिखलाया है, यह संवाद सुनकर, बूढ़े भीष्म पितामह कुछ कुछ शांत हुए और उनके दोनों नेत्रों में आँसू भर आए। उन्होंने रुद्ध कंठ से माता-सहित पांडवों की सदा रक्षा करने के लिये सिद्धिदाता मंगलमय हरि से प्रार्थना की।

स्वयंवर-सभा में पांडवों की विजय के संवाद सुन पांडवों के हितैषी भीष्म, विदुर आदि जितने प्रसन्न हुए, उतने ही दुर्योधन और धृतराष्ट्र दुःखी और क्षुब्ध हुए। कुरुकुल का एक पक्ष तो अस्त होते हुए चंद्रमा की तरह मलिन हो गया और दूसरा फूले हुए कमल की तरह प्रफुल्ल हो उठा। लाक्षा-भवन में पांडवों के विनाश का षड्यंत्र व्यर्थ हुआ जानकर दुर्योधन उनके विनाश का दूसरा उपाय सोचने लगा। कर्ण ने कहा—"षड्यंत्र की क्या आवश्यकता है? सामने युद्ध में उन्हें परास्त करना ही अच्छा है।" धृतराष्ट्र यद्यपि दुर्योधन के

एकांत पक्षपाती थे, तथापि भीष्म के कारण कुछ करने का उनको साहस नहीं होता था। उन्होंने भीष्म, विदुर और द्रोण को बुला भेजा। उनके आने पर धृतराष्ट्र ने सबसे पहले भीष्म से पूछा कि पांडवों के बारे में अब क्या करना चाहिए?

भीष्म ने धृतराष्ट्र के प्रश्न के उत्तर में गंभीर स्वर से कहा—

भीष्म—वत्स! मेरे लिये तुम और पांडु दोनों ही बराबर हो। मैंने समान स्नेह से दोनों का पालन-पोषण किया है, समान यत्न से दोनों को शिक्षा दी है। तुम्हारे पुत्रों पर मेरा जितना स्नेह है, पांडु के पुत्रों पर भी उतना ही है। पांडवों के प्रति मेरा जो भाव है वही तुम्हारे पुत्रों के प्रति भी है। पांडव और दुर्योधनादि कौरव मेरे लिये सब समान हैं। ऐसी अवस्था में पांडवों के साथ युद्ध करने में मेरी अभिरुचि क्योंकर हो सकती है? आपस की लड़ाई बड़ी बुरी होती है। पांडवों को आधा राज्य देकर उन्हें अपना समय बिताने देना ही आपका कर्त्तव्य है।

धृतराष्ट्र से इतना कहकर भीष्म ने दुर्योधन को संबोधन करके कहा—

भीष्म—बेटा! तुम जैसा मन में सोचते हो कि यह विस्तृत जनपद मेरा पैतृक राज्य है, पांडव भी ऐसा ही सोच रहे हैं। यदि पांडवों को राज्य न मिला तो तुम किस प्रकार

राज्य पा सकते हो ? तुम्हारे बाद भरतवंश में जितने और राजकुमार होंगे, उन्हीं को किस नियमानुसार राज्य मिलेगा ? मेरी सम्मति तो यही है कि हँसते खेलते अपने बड़े भाई युधिष्ठिर को आधा राज्य देकर सदा के लिये झगड़ा मिटा दो। विवाद का प्रयोजन ही क्या है ? आपस की लड़ाई अनर्थ का मूल होती है। आधा राज्य दे देने में दोनों पक्ष का मंगल है। इसके विरुद्ध करने में किसी की भी भलाई न होगी, तुम्हारी भी सब लोग निंदा करेंगे। इस पृथिवी पर कीर्ति ही मानव-जाति का परम धन है। कीर्तिमान् लोग लोकांतरित होने पर भी इस लोक में जीवित रहते हैं और कीर्त्तिहीन लोग जीते हुए भी मरों के समान होते हैं। तुम इस समय कीर्त्ति-रक्षा-रूप कुलोचित धर्मानुष्ठान करो। जिस मार्ग का अवलंबन तुम्हारे पूर्वपुरुष कर चुके हैं उसी का अव-लंबन तुम भी करो। हम लोगों के सौभाग्य से माता-सहित पांडव बच गए हैं। अच्छा हुआ, दुरात्मा पुरोचन का मनो-रथ पूरा न हो पाया और वह मारा गया। जिस दिन से मैंने सुना था कि माता-सहित पांडव जल मरे उस दिन से मैंने लोगों को अपना मुख नहीं दिखाया, मारे मनस्ताप के जीता हुआ भी मैं मरे के समान था। लोग पुरोचन को दोषी न ठहराकर तुम्हारे सिर सारा दोष मढ़ते हैं। अब पांडवों को बुलाकर आधा राज्य उन्हें दे दो और आपस का झगड़ा मिटा डालो। पांडव एकमत, एकहृदय और धर्म-निरत हैं,

अधर्म के बल से तुम भले ही उनका हिस्सा रोक रक्खो, पर धर्मानुसार तुम ऐसा कभी नहीं कर सकते! यदि धर्म में तुम्हारी बुद्धि हो, यदि मुझे प्रसन्न करना तुम्हें इष्ट हो, यदि तुम्हें अपनी भलाई करनी हो, तो मेरा कहना मानो और आधा राज्य पांडवों को दे दो।

यह कहकर भीष्म चुप हो गए। उनका धर्मसंगत उपदेश फलोन्मुख हुआ। आचार्य द्रोण और धर्मवत्सल विदुर ने भीष्म की बड़ाई करते हुए उनके प्रस्ताव का उदारतापूर्वक अनुमोदन किया। किंतु कर्ण ने उनकी इसके लिये अकारण निंदा की। तो भी असामान्य गांभीर्यशाली भीष्म अपने मुख पर, अपने से छोटों के मुख से, अपनी अकारण निंदा सुन तिल भर भी विचलित न हुए। द्रोणाचार्य और विदुर ने भी कर्ण की बातों की उपेक्षा की।

अनंतर धृतराष्ट्र ने भीष्म के उपदेशानुसार विदुर को द्रुपदराज के पास भेजा। विदुर, युधिष्ठिर को उनके भाइयों और उनकी माता एवं पत्नी-सहित हस्तिनापुरी में लिवा लाए। पांडव समातृक और सपत्नीक आ रहे हैं, यह सुनते ही उनकी अगवानी के लिये कृपाचार्य, द्रोणाचार्य और कतिपय कौरवों को धृतराष्ट्र ने भेजा। पांडवों की अवाई सुनकर पुरवासी प्रसन्न हुए और कहने लगे—"आज धर्मात्मा पुरुषश्रेष्ठ युधिष्ठिर पितृ-राजधानी में लौटकर आ रहे हैं। उनके आने से ऐसा जान पड़ता है, मानों महाराज

पांडु स्वयं हम लोगों के हित के लिये स्वर्ग से उतरकर आ रहे हैं। पांडवों के आने से आज हमारे आनंद की सीमा नहीं है। यदि हमने कभी कुछ दान किया हो, होम किया हो, तपस्या की हो, तो उस पुण्य के फल से पांडु-नंदन शतायु होकर राजधानी में रहें।" पांडव पुरवासियों के मुख से ऐसे प्रीति-पगे वाक्य सुनते सुनते राज-भवन में पहुँचे। वहाँ जाकर उन लोगों ने भीष्म, धृतराष्ट्र आदि गुरुजनों के पैर छुए। कौरव उनसे बार बार कुशल-प्रश्न करने लगे। भीष्म ने बड़े स्नेह के साथ उनको गले से लगा लिया। पांडव भी कौरवों को प्रीति-युक्त वाक्यों से प्रसन्न कर स्वयं विश्राम करने लगे। अनंतर भीष्म ने उन्हें धृतराष्ट्र के समीप बुला भेजा। वे विनीत भाव से भीष्म और धृतराष्ट्र के पास गए। धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर को आधा राज्य दे दिया और उनके रहने के लिये खांडवप्रस्थ नगर बतला दिया। युधिष्ठिरादि पांडवों ने धृतराष्ट्र के आदेश को शिरोधार्य कर खांडवप्रस्थ जाने की तैयारियाँ कीं। दुर्योधन से फिर झगड़ा न हो, इसी से पांडवों के रहने के लिये स्वतंत्र स्थान की व्यवस्था की गई थी। यह काम भीष्म के अनुमोदन से हुआ था। पांडवों ने प्रसन्न मन से अरण्य-पथ से खांडवप्रस्थ की यात्रा की।

छठा अध्याय

राजसूय यज्ञ और पांडवों का वनवास

पांडवों के पहुँचते ही खांडवप्रस्थ की श्रीवृद्धि होने लगी। युधिष्ठिर अपनी राजधानी की शोभा बढ़ाने का यत्न करने लगे। राजधानी के चारों ओर परिखा और समुन्नत प्राकार परिशोभित हुआ। उसके सुविस्तृत राजपथ के दोनों ओर सघन वृक्षावली श्रेणीबद्ध रूप से लगाई गई। नगर में जगह जगह अनेक उद्यान सुदृश्य पुष्पराजि से अलंकृत और सुरम्य लता-वितान से सुशोभित हुए। उनके स्वच्छ-सलिल सरोवरों की हंस, चक्रवाक, वक आदि वारिविहंग शोभा बढ़ाने लगे। सर्ववेद-वेत्ता ब्राह्मण, सर्वभाषावित् पंडित, सर्वस्थानगामी धनाकांक्षी व्यवसायी और सब कलाओं में निपुण शिल्पी राजधानी की जनसंख्या बढ़ाने लगे।

पांडव इंद्रप्रस्थ की रमणीयता और उसके जनबाहुल्य को देखकर प्रसन्न हुए। परमस्नेहास्पद युधिष्ठिर की नवीन राजधानी की शोभा-संपत्ति का समाचार पाकर भीष्म परम संतुष्ट हुए। यद्यपि भीष्म युधिष्ठिर के परम हितैषी और शुभचिंतक थे, तथापि वे रहते धृतराष्ट्र ही के साथ थे, क्योंकि उनका सब पर समान स्नेह था। वे युधिष्ठिर के अभ्युदय से जैसे प्रसन्न थे वैसे ही दुर्योधन की उन्नति से भी संतुष्ट थे। युधिष्ठिर की

धर्मपरायणता, भीम की बलशालिता और अर्जुन की अस्त्र-कुशलता से पांडवों की अच्छी उन्नति हुई। वे नियमपूर्वक शासन और प्रजा-पालन करते थे। ऐसा क्यों न होता? जब सर्वनीति-विशारद वासुदेव उनके सदुपदेश देनेवाले थे तब उन्हें कमी ही किस वस्तु की रह सकती थी! यह विश्वास करके ही भीष्म पांडवों के साथ नहीं रहते थे। वे जिस स्थान में लड़कपन में पाले पोसे गए थे, युवावस्था में जहाँ उन्होंने पितृदेव के परितोषार्थ राज्य-परित्याग की अपूर्व प्रतिज्ञा की थी, वह स्थान भीष्म सहसा कैसे त्याग सकते थे! भीष्म पूर्ववत् कुरुराज की अधीनता स्वीकार कर राजधानी में रहने लगे।

युधिष्ठिर, भीष्म और धृतराष्ट्र के उपदेशानुसार, खांडव-प्रस्थ में राजधानी स्थापित करके मन लगाकर राज्यशासन और प्रजापालन करने लगे। उनकी राजनीति के प्रभाव से समस्त जनपदों की श्रीवृद्धि हुई। शत्रुकुल निर्मूल हुआ, प्रजा कुपथगामिनी न होकर अपने अपने कर्त्तव्य कर्म में प्रवृत्त हुई। देश देश के राजा लोग, स्पर्द्धा छोड़कर, युधिष्ठिरादि के साथ मैत्री करने के प्रार्थी हुए। युधिष्ठिर के चारों भाइयों के पराक्रम से अन्य राज्य उनकी मुट्ठी में आ गए। महाराज युधिष्ठिर ने अखिल राजमंडल के अधिपति और विपुल ऐश्वर्य के अधिकारी होकर, कृष्ण के मतानुसार, राजसूय यज्ञ करने का संकल्प किया।

तुरंत ही महायज्ञ की तैयारियाँ होने लगीं। शिल्पी, युधिष्ठिर के आदेशानुसार, सुप्रशस्त यज्ञमंडप और आमंत्रित लोगों के लिये पृथक् पृथक् घरों की रचना करने लगे। आचार्य धौम्य के आज्ञानुसार यज्ञीय वस्तुओं को एकत्र करने और निमंत्रण देने के लिये देश देशांतरों में दूतों को भेजने का काम सहदेव को सौंपा गया। महर्षि कृष्ण द्वैपायन ने उपस्थित होकर वेदज्ञ ब्राह्मणों को पृथक् पृथक् कर्म्मों पर नियुक्त किया। भीष्म, धृतराष्ट्र, द्रोण आदि गुरुजनों और दुर्योधनादि भाइयों को निमंत्रण देने के लिये नकुल हस्तिनापुरी भेजे गए।

नकुल ने हस्तिनापुरी में पहुँचकर, बड़ी नम्रता के साथ, भीष्म आदि गुरुजनों और आचार्य प्रमुख विप्रों को निमंत्रण दिया। युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ करना चाहते हैं, यह सुनकर भीष्म परम संतुष्ट हुए। जिनके यत्न से जो सुशिक्षित हुए, वे ही आज चक्रवर्त्ती के सम्मानित पद पर प्रतिष्ठित होकर राजसूय जैसे महायज्ञ का अनुष्ठान करते हैं और सारी राजमंडली उनके चरणों में नत-मस्तक हो रही है, यह जानकर कौरव-श्रेष्ठ भीष्म आश्वस्त हुए। उनके हृदय में जो आग धधक रही थी, वह बहुत दिनों बाद शांतिरूपी सलिल से बुझ गई। बहुत दिनों की अभिलाषा आज पूरी होने पर मारे आनंद के वृद्ध भीष्म नयनजल से अपना वक्षःस्थल भिगोने लगे। हस्तिनापुरवासियों ने बड़ी प्रसन्नता के साथ निमंत्रण को ग्रहण

किया और खांडवप्रस्थ की यात्रा की। युधिष्ठिर ने बड़े विनय के साथ भीष्म तथा अन्य गुरुजनों को प्रणाम किया और हाथ जोड़कर वे कहने लगे—

युधिष्ठिर—मैंने राजसूय यज्ञ की दीक्षा ले ली है। आप अनुग्रहपूर्वक मेरे सहायक हों। मेरी सारी संपत्ति पर आपका पूरा अधिकार है। आप लोग ऐसा ही करें जिससे सब प्रकार से मेरा श्रेय हो और आरंभ किया हुआ कार्य सुश्रृंखल रूप से संपन्न हो।

यह कहकर युधिष्ठिर चुप हो गए। उन सब लोगों ने अपनी अपनी योग्यता के अनुसार पृथक् पृथक् कार्य का भार अपने ऊपर ले लिया। जो स्वभाव से अजातशत्रु हैं, उन्हें कोई अपना शत्रु नहीं दीख पड़ता। अतः दुर्योधन और दुःशासन का भी खांडवप्रस्थ में बड़ा आदर हुआ। युधिष्ठिर ने स्नेहपूर्वक एक एक आदमी को अलग अलग काम सौंप दिया। भीष्म और द्रोण ने कर्त्तव्याकर्त्तव्य की विवेचना का भार लिया। धृतराष्ट्र गृहपति की तरह रहे। कृपाचार्य ने धन-रत्न की देख-रेख और दक्षिणा बाँटने का काम लिया। दुर्योधन को उपायन प्रतिग्रह का काम सौंपा गया। दुःशासन ने भोज्य पदार्थों की देख-रेख का काम लिया। अश्वत्थामा ने ब्राह्मणों की और संजय ने राजन्यवर्ग की परिचर्या का काम लिया। श्रीकृष्ण ने ब्राह्मणों के पादप्रक्षालन और उनकी सेवा-शुश्रूषा का कार्य आग्रहपूर्वक लिया।

धीरे धीरे आमंत्रित मेहमानों का आना आरंभ हुआ। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—सभी वर्णों के लोगों को निमंत्रण दिया गया था। सब लोग अपने अपने इष्ट मित्रों और आत्मीय वर्ग के साथ आए। ऋषिगण, नृपतिगण, पुरवासीगण और जनपदवासीगण से यज्ञस्थल भर गया। आए हुए लोग यज्ञसभा की शोभा, अभ्यर्थना की सुशृंखला, परिचर्या की परिपाटी और यज्ञस्थल में धन की राशि देख मुक्तकंठ से धर्मराज की प्रशंसा करने लगे। निर्दिष्ट दिन उपस्थित होने पर महायज्ञ का अनुष्ठान आरंभ हुआ। जिस प्रकार युधिष्ठिर ने हजारों लोगों से भेंट ली, उसी प्रकार मुक्तहस्त होकर ब्राह्मणों को दक्षिणा भी दी। जो जिसने माँगा वही उसने, मुँहमाँगा और आवश्यकता से अधिक, पाया।

भीष्म ने इस महायज्ञ में कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विचार का भार ग्रहण कर अपनी समीक्ष्यकारिता और गुणग्राहकता का विशेष परिचय दिया। उन्होंने युधिष्ठिर से कहा—

भीष्म—बेटा! आचार्य, ऋत्विक्, स्नातक, नृपति प्रभृति गुणज्येष्ठ व्यक्तिगण अर्घ्य ग्रहण के योग्य पात्र हैं। इनमें जो सर्वश्रेष्ठ हो, यज्ञ-भूमि में उसी का सबसे पहले अर्घ्य द्वारा पूजन करो।

युधिष्ठिर—आर्य! आप किस असाधारण व्यक्ति को सबसे आगे अर्घ्यप्रदान का उपयुक्त पात्र समझते हैं, आज्ञा कीजिए।

इस पर भीष्म ने श्रीकृष्णजी को सर्वश्रेष्ठ समझ युधिष्ठिर से कहा—

भीष्म—तारामंडल में जिस प्रकार भास्कर सर्वातिशायिनी प्रभा द्वारा श्रेष्ठ है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण इस लोक में सर्वश्रेष्ठ हैं। सूर्य के उदय होने पर जिस प्रकार पृथिवी पर चारों ओर प्रकाश फैल जाता है, शुद्ध पवन के चलने पर जिस प्रकार जीवधारियों का मन प्रसन्न होता है, श्रीकृष्ण के पधारने से हमारी सभा भी उसी प्रकार श्रीसंपन्न हो गई है। अतएव इन्हीं को अर्घ्य प्रदान करना उचित है।

भीष्म के ऐसा कहने पर युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण को अर्घ्य देने का संकल्प किया। अनंतर भीष्म के आज्ञानुसार सहदेव ने श्रीकृष्ण को यथाविधि अर्घ्य दिया। श्रीकृष्ण ने शास्त्र-विधि से अर्घ्य लिया। उस समृद्धिशालिनी सभा में द्वारावती-राज को सम्मानित और संपूजित होते देख चेदि-राज शिशुपाल के शरीर में आग सी लग गई। उससे श्रीकृष्ण का यह सम्मान न सहा गया। वह भीष्म, युधिष्ठिर और श्रीकृष्ण की निंदा करता हुआ तथा अपने पक्ष के राजाओं को लेकर सभा छोड़कर जाने को उद्यत हुआ। यह देख युधिष्ठिर ने बड़ी प्रीति के साथ मधुर वाणी से उसे बहुत समझाया बुझाया, किंतु शिशुपाल न माना। उसने पूर्ववत् भीष्म और श्रीकृष्ण की निंदा की और वह अपना प्राधान्य स्थापन करने लगा।

युधिष्ठिर के विनीत वचनों से जब शिशुपाल को शांत होते न देखा, तब भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा—

भीष्म—वत्स ! लोकपूजित श्रीकृष्ण का अर्चन जो नहीं देख सकता, जो हितकर बातें कहने से और भी अधिक उत्तेजित होता है, उसको मनाने से क्या होगा ?

अनंतर उन्होंने शिशुपाल से कहा—

भीष्म—चेदिराज ! श्रीकृष्ण के पराक्रम से जो पराभूत न हुआ हो ऐसा कोई भी राजा मुझे इस राज-समाज में नहीं दीख पड़ता। श्रीकृष्ण केवल हमारे ही पूज्य नहीं हैं, किंतु त्रिभुवन में यह पूजे जाते हैं। इनके साथ डाह करना तुम्हें शोभा नहीं देता। मैंने अनेक स्थानों में बहुत से लोग देखे भाले हैं, अनेक ज्ञानवृद्ध साधु महात्माओं का सत्संग किया है, सबने मुक्त कंठ से श्रीकृष्ण का गुण-कीर्त्तन ही किया। असामान्य क्षमता, असाधारण वीरत्व और लोकव्यापिनी कीर्त्ति से श्रीकृष्ण सर्वत्र प्रधान समझे जाते हैं। वे अवस्था के हिसाब से बालक होने पर भी निखिल वेद-वेदांग के पारदर्शी और बड़े विक्रमशाली हैं। इस मृत्युलोक में तो इनके समान वेद-वेदांगसंपन्न, विनयशाली, यशस्वी और तेजस्वी महापुरुष दूसरा दिखलाई नहीं पड़ता। हमने किसी संबंध के कारण या किसी प्रत्युपकार की आशा से इनका पूजन नहीं किया। इनकी असामान्य गुणावली के सम्मानार्थ ही इनको अर्घ्य दिया गया है। इसमें हमने पक्षपात नहीं किया और

न हमने किसी प्रकार की भूल ही की। हमने पूर्ण रीति से विवेचना करके पुरुषप्रधान श्रीकृष्ण को सर्वश्रेष्ठ माना है। तुम बाल-चापल्य के वशवर्त्ती होकर ही श्रीकृष्ण के असाधारण गुणों को नहीं समझ सके। बुद्धिमान् लोग जैसा धर्म का मर्म समझ सकते हैं वैसा इतर जन नहीं समझ सकते। इस महती सभा में उपस्थित ऋषियों, ब्राह्मणों और महीपालों में कौन है जो श्रीकृष्ण को पूज्य नहीं बतलावेगा? कौन है जो उनका अनादर करे? गुणियों के समाज में गुण ही पूजा जाता है, केवल वयोवृद्धि होने ही से कोई पूज्य नहीं हो जाता। श्रीकृष्ण का पूजन यदि तुम्हें न्याय-संगत न जान पड़े तो जो तुम्हें सूझ पड़े सो करो।

भीष्म ने भरी राजसभा में इस प्रकार अपनी गुणग्राहकता का परिचय दिया। उनकी उदारता देख उपस्थित सभ्य विस्मित हुए। सभी लोग प्रसन्न हुए और उनकी ओर देखते ही रह गए। भीष्म ने गुरु होकर भी अल्पवयस्क एक व्यक्ति के गुणों की मर्यादा रक्खी, इससे उनकी महानुभावता ही प्रदर्शित होती है। किंतु मूढ़ का हृदय इससे भी आर्द्र न हुआ। भीष्म की बात पूरी होते ही शिशुपाल और उसके पक्ष के भूपाल कोलाहल करने लगे। वे पहले से भी अधिक उत्तेजित हो और क्रोध में भर श्रीकृष्ण को कुवाच्य एवं कठोर वचन कहने लगे। युधिष्ठिर राजमंडली को इस प्रकार क्षुब्ध देखकर बहुत चिंतित हुए और भीष्म से कहने लगे—

युधिष्ठिर—आर्य ! शिशुपाल और उसके पक्षपाती राजा लोग उत्तेजित हुए हैं। अब ऐसा उपाय सोचना चाहिए, जिससे न तो यज्ञ में किसी प्रकार का विघ्न पड़े और न किसी का अनहित हो।

भीष्म—वत्स ! तुम उत्कंठित मत हो। आरंभ किए हुए यज्ञ में किसी प्रकार का विघ्न न पड़ेगा। हमारे अर्चित श्रीकृष्ण स्वयं इस उपद्रव को शांत कर देंगे।

इतने में शिशुपाल बोल उठा—

शिशुपाल—भीष्म का जीवन इन्हीं भूपालों के अधीन है।

यह सुनते ही तेजस्वी पुरुषश्रेष्ठ भीष्म तेजस्विता धारण कर और गरजकर बोले—

भीष्म—चेदिराज ! तुम कहते हो मैं इन महीपालों के इच्छानुसार जी रहा हूँ, किंतु मैं इनको तिनके के बराबर भी नहीं समझता। मैं अपने बल और भरोसे पर जी रहा हूँ। मैंने सोच विचारकर युधिष्ठिर को जो परामर्श दिया है, उससे मेरा चाहे कोई विरोधी हो जाय, उसके सामने कभी मैं सिर न नवाऊँगा। जब तक मेरी नसों में क्षत्रियत्व का एक बिंदु भी रक्त बना रहेगा, जब तक महीयसी वीरत्वकीर्ति वीरेंद्रसमाज में एकमात्र संपत्ति समझी जायगी, जब तक तेजस्वी पुरुष सर्व अवस्थाओं में आत्मसम्मान का अटल भाव से परिचय देते रहेंगे तब तक भीष्म, तेजस्विता को विसर्जन कर, दूसरों के पैरों पर कभी न गिरेगा।

भीष्म की इन उत्तेजना भरी बातों को सुन वह महती सभा कोलाहल-पूर्ण हो गई। शिशुपाल के साथी राजा लोग बहुत चिढ़े। उनमें से किसी किसी ने बड़े जोर से हँसकर आक्षेप किए और कोई कोई भीष्म की कुत्सा करने लगे। उनमें ऐसे भी थे जिनको इतना साहस आ गया कि वे निर्भीक हो बोले—"भीष्म क्षमा के योग्य नहीं है। अतः इसे पशु की तरह मारो अथवा प्रदीप्त हुताशन में जला दो।" तेजस्वी भीष्म उनकी इन बातों को सुनकर अटल भाव से और गंभीर स्वर से राजाओं को संबोधन करके कहने लगे—

भीष्म—राजागण! मैं देखता हूँ तुम्हारी बातों का कभी अंत न होगा। जब तक कहा सुनी होती रहेगी, तब तक बात बढ़ती ही जायगी। तुम मुझे भले ही पशु की तरह मार डालो अथवा जलती आग में जला डालो, पर मैं तुम्हें तुच्छ ही समझता हूँ। मैंने श्रीकृष्ण का अर्चन कराया है और श्रीकृष्ण यहाँ उपस्थित हैं, जिसकी मरने की इच्छा हो वह इन वासुदेव के साथ युद्ध करे।

भीष्म की यह बात सुन शिशुपाल द्वंद्व युद्ध के लिये उद्यत हुआ, क्योंकि श्रीकृष्ण की पूजा होते देख उसे ही बड़ा बुरा लगा था। वह स्वयं अपना पूजन करवाया चाहता था। सुतरां उसने तुरंत तलवार लेकर वासुदेव को युद्ध करने के लिये ललकारा, किंतु उसकी वासना फलवती न हुई। वह वासुदेव के पराक्रम से युद्ध में पराजित होकर मारा गया। युधिष्ठिर

ने अनुजों के द्वारा शिशुपाल की अंत्येष्टि क्रिया करवाई और उसके पुत्र को चेदिराज्य की गद्दी पर अभिषिक्त किया।

अनंतर बड़े समारोह से राजसूय यज्ञ पूरा हुआ। युधिष्ठिर के धर्मानुराग, धनंजय के धैर्य्य, वृकोदर के पराक्रम, नकुल के शुद्ध भाव, सहदेव की गुरु-शुश्रूषा, कृष्ण की प्रभुता और सब के ऊपर भीष्म के कर्त्तव्याकर्त्तव्य-विचार से, यज्ञ सांगोपांग पूरा हुआ, किसी बात की कमी न हुई। यज्ञांत में पृथिवी के सब राजाओं ने सम्राट् युधिष्ठिर के प्रति समुचित सम्मान दिखलाया। इस प्रकार राजसूय यज्ञ में राजाओं के सामने युधिष्ठिर का प्राधान्य स्थापित हुआ। युधिष्ठिर की बढ़ती देख भीष्म को बड़ी प्रसन्नता हुई, श्रीकृष्ण के आनंद की सीमा न रही। वयोवृद्ध पुराने यज्ञ करानेवाले कहने लगे कि "ऐसा समृद्धि-पूर्ण, ऐसा शृंखला-संपन्न, ऐसा समारोह-युक्त महायज्ञ हमने कभी नहीं देखा। इस महायज्ञ में युधिष्ठिर को चक्रवर्ती पद का मिलना न्यायसंगत कार्य हुआ है।" यज्ञ पूरा होने पर आमंत्रित लोग परिचर्य्या से संतुष्ट और धन मान से पूजित होकर बिदा हुए और सब अपने अपने घर गए। युधिष्ठिर के आज्ञानुसार उनके छोटे भाई निमंत्रित सज्जनों को अपने राज्य की सीमा पर्यंत पहुँचाने गए। राजाओं और ब्राह्मणों के चले जाने पर भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा—

भीष्म—बेटा! आरंभ किए हुए तुम्हारे यज्ञ को सांगोपांग पूर्ण हुआ देख मैं कृतकृत्य हुआ। तुम ससागरा पृथिवी के

राजाओं को वशीभूत करके सम्राट् हुए हो और पक्षपात छोड़कर प्रजा-पालन और न्यायानुसार साम्राज्य-शासन करते हो। तुम अपनी धर्मनिष्ठा से भूलोक में धर्मराज कहलाकर प्रसिद्ध हुए हो। इससे बढ़कर मेरे लिये और कौन सी सौभाग्य की बात हो सकती है। अपने हाथ का लगाया हुआ वृक्ष जब श्यामल पत्रावली से शोभित होता है और अमृतमय सुस्वादु फलों के बोझ से झुकता है तब उसे देख जो आनंद प्राप्त होता है, वही आनंद आज मुझे तुम्हारा अभ्युदय देखकर हो रहा है। मैं निरंतर अंतःकरण से तुम्हारी भलाई चाहा करता हूँ। भगवान् वासुदेव की सहायता से उत्तरोत्तर तुम्हारी श्रीवृद्धि हो। तुम्हारी असामान्य कामना और धर्मनिष्ठा से हमारा पवित्र कुल उज्ज्वल हुआ। बहुत वर्षों से मैंने राज्य त्याग दिया है और बहुत वर्षों से शुद्ध मन से कुरुराज की शुश्रूषा करते करते अब मैं बूढ़ा हो गया हूँ। इस समय तुमको राजाधिराज पद पर प्रतिष्ठित देखकर मेरे आनंद और लाभ की सीमा नहीं है।

भीष्म यह कहकर बिदा हुए और हस्तिनापुर की ओर प्रस्थानित हुए। साथ ही श्रीकृष्ण भी द्वारका को लौट गए।

हस्तिनापुरी में लौटकर दुर्योधन उदास रहने लगा। युधिष्ठिर की अतुलित समृद्धि, असाधारण क्षमता, सर्वमंडलाधिपत्य देखकर उसका हृदय जलने लगा। खांडवप्रस्थ में युधिष्ठिर ने उसके साथ जो प्रीतियुक्त सद्व्यवहार

किया था और अपना समझ उसे यज्ञीय कार्य सौंपा था, एवं जो सौभ्रात्र दिखाया था—ये सारी बातें वह भूल गया। ऐसे भले बड़े भाई का किस प्रकार सत्यानाश हो, दुर्योधन को अब इसी बात की रात-दिन चिंता रहने लगी। युधिष्ठिर की क्षमता किस प्रकार विलुप्त हो, उनकी सारी संपत्ति कैसे हस्तगत हो, उनका साम्राज्य कैसे मेरे अधिकार में आ जाय, दुर्योधन सदा अब यही सोचा करता है। युधिष्ठिर को अक्षक्रीड़ा (चौसर या पासे के खेल) से बड़ा अनुराग था। इसलिये सुबलनंदन ने दाँव लगाकर युधिष्ठिर को जुए में हराने का प्रस्ताव किया। इस विषय में धृतराष्ट्र ने अपने पुत्र की हाँ में हाँ मिलाई। भीष्म ने जुए की अनेक बुराइयाँ दिखलाकर दुर्योधन को बहुत समझाया बुझाया, विदुर और गांधारी ने भी भीष्म के कथन की पुष्टि की, किंतु धृतराष्ट्र और दुर्योधन ने उनका कहा न माना। धृतराष्ट्र के आदेशानुसार युधिष्ठिर हस्तिनापुरी में गए और अक्षक्रीड़ा में प्रवृत्त हुए। सुबलतनय की चातुरी से पहले ही उनकी हार हुई, दूसरी बार भी सुबलतनय की चालाकी से वे हारे। दूसरी बार युधिष्ठिर ने यह दाँव लगाया था कि यदि इस बार मेरी हार हुई तो मैं राज्य-परित्याग कर और मृगचर्म धारणकर, बारह वर्ष वन में रहूँगा और एक वर्ष इस प्रकार छिपकर रहूँगा कि कि मेरा पता किसी को न चले। यदि इस अवधि में मेरा पता चल गया तो फिर बारह वर्ष तक वन

में रहूँगा। युधिष्ठिर के पराजित होने पर उनके छोटे भाइयों को द्रौपदी-सहित अज्ञातवास करना होगा।

युधिष्ठिर द्यूतक्रीड़ा में पराजित होकर, दाँव के अनुसार राजवेश परित्याग कर और मृगचर्म धारण कर, छोटे भाइयों और कृष्णा-सहित भीष्म धृतराष्ट्र आदि गुरुजनों को प्रणाम कर अरण्य-यात्रा के लिये उद्यत हुए। भीष्म और कुंती ने गद्गद कंठ और अश्रुपूर्ण नेत्रों से उन्हें बिदा किया। पुरवासियों ने उन्हें वनवास के लिये उद्यत देख हाहाकार किया। बालक बालिकाएँ आँखों में आँसू भरकर उनके समीप जा खड़े हुए। युवक युवती उदास हो उन्हें देखने लगे। वृद्ध और वृद्धा आर्त्तनाद करती हुई उनके पीछे हो लीं। सारा खांडव-प्रस्थ और हस्तिनापुर मानों दुखी होकर, करुण स्वर से उनका गुण-कीर्त्तन और उनके लिये विलाप करने लगा। युधिष्ठिर ने प्रेम-पगे मधुर वाक्यों में पुरवासियों को समझाते हुए कहा—

युधिष्ठिर—पौरगण! मुझमें गुण न होते हुए भी आप करुणा के वशवर्त्ती होकर मेरे गुणों का कीर्त्तन कर रहे हो, इससे मैं अपने को कृतकृत्य समझता हूँ। मैं भाइयों-सहित आपको जो जनाता हूँ, उसके विरुद्ध आप कोई काम न करना। हस्तिनापुर में पितामह भीष्म, राजा धृतराष्ट्र, धर्मवत्सल विदुर और जननी कुंती रहेंगी। वे शोक-संताप से बहुत कायर हैं। आप लोग हमारे हितैषी होकर उनकी देख-रेख करते रहिएगा। मैं अपने जनों की रक्षा का भार आप लोगों को

सौंपता हूँ। अब आप लोग हमारे साथ न चलें। इसी से हम अत्यंत संतुष्ट होंगे।

युधिष्ठिर के इन वचनों को सुन पुरवासी विलाप और परिताप करते करते लौट आए। पांडव भी कृष्णा-सहित पुण्यसलिला जाह्नवी के तीर पर पहुँचे। अनंतर वहाँ से उन लोगों ने तपोवन-विहारी तपस्वियों का वेश धारण किया और वन में प्रवेश किया। युधिष्ठिर का सुविस्तृत साम्राज्य दुर्योधन का हुआ।

सातवाँ अध्याय

श्रीकृष्ण का दौत्य-कर्म

पांडवों की दुर्दशा देख भीष्म फिर गहरे शोकसागर में निमग्न हो गए। युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ देखकर उनको जैसी प्रसन्नता हुई थी, इस समय युधिष्ठिरादि को वनवासी देख वैसा ही विषाद हुआ। उन्होंने स्पष्ट समझ लिया कि धृतराष्ट्र और दुर्योधन की पाप-बुद्धि से शीघ्र ही बड़ा भारी कलह आपस में होनेवाला है। इस परस्पर के कलह से इस कुल का विध्वंस होगा। भीमसेन जैसा असहिष्णु, अर्जुन जैसा पराक्रमी है, इससे उनमें से कोई भी दुर्योधन के किए हुए अपमान को न सह सकेगा। भीष्म इसी दुश्चिंता के कारण सदा उदास रहकर समय बिताने लगे।

उधर बड़ी बड़ी कठिनाइयों को भोगकर पांडवों ने बारह वर्ष वन में पूरे किए। इसके बाद तेरहवाँ वर्ष उन्होंने मत्स्यराज विराट् के यहाँ रहकर बिताना चाहा। उनकी उद्देश्य-सिद्धि में किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित न हुआ। उन्होंने एक दुरारोह पर्वत-शिखरस्थ एक प्रकांड शमी वृक्ष पर अपने सब आयुध छिपाकर रख दिए और भेष बदल बदलकर वे विराट् के पास गए। वहाँ जाकर उन्होंने अपने अपने बनावटी नाम

रक्खे और वे नौकरी करने लगे। युधिष्ठिर कंक नाम रखकर राजा विराट् के दरबारी बने। भीम बल्लव नाम बतलाकर रसोइया बनकर रहे। स्त्री-वेश धारण कर अर्जुन ने अपना नाम बृहन्नला रक्खा और विराट्-राजकुमारी उत्तरा को वे नृत्यगीत सिखाने लगे। नकुल ने ग्रंथिक नाम रक्खा और वे सईस का काम करने लगे। सहदेव ने अपना नाम अरिष्टनेमि बतलाया और गौएँ चराने का काम लिया। कृष्णा सैरंध्री नाम से परिचित होकर विराट्-महिषी की परिचर्य्या करने लगी।

पांडवों के इस अज्ञातवास की अवधि में दुर्योधन ने उन्हें बहुत ढुँढ़वाया। उसके भेजे हुए दूत अनेक प्रकार के रूप धारण कर अनेक स्थानों में घूमे, पर पांडवों का उन्हें कुछ भी पता न चला। पांडवगण विराट्-नगर में इस प्रकार भेस बदलकर और सुनियमपूर्वक अपना अपना काम करते थे कि दुर्योधन के भेजे हुए दूत उन्हें न पहचान पाए। वे सब हताश हो हस्तिनापुर लौट आए। दुर्योधन भीष्म, द्रोण आदि मंत्रियों और भाइयों के सहित सभा में बैठा था। इतने में प्रतिहारी ने जाकर दूतों के लौटने की सूचना दी। दुर्योधन ने उन दूतों को तुरंत सभा में लाने की आज्ञा दी। कुरुराज के आदेशानुसार दूतों ने सभा में उपस्थित हो और हाथ जोड़कर कहा—

दूत—महाराज! वन, उपवन, पहाड़, नगर, जनपद ऐसा कोई भी स्थान नहीं जहाँ हमने पांडवों को न खोजा हो, किंतु

पांडव कृष्णा-सहित कहाँ हैं, किस प्रकार रहते हैं, इसका पता नहीं चलता। जान पड़ता है या तो वे किसी बनैले पशु-द्वारा अथवा किसी अपरिचित देश में किसी शत्रु द्वारा मार डाले गए। हमने विराट् के राज्य में सुना है कि विराट् का सेनापति और आपका परम शत्रु कीचक रात में किसी गंधर्व द्वारा मारा गया है। अब सोच विचारकर कहिए, हम लोगों को क्या आज्ञा है?

दूतों की बातें सुन दुर्योधन कुछ क्षण तक चुप रहा। अनंतर उद्विग्न होकर उसने भीष्म प्रभृति मंत्रियों से पूछा कि इस विषय में क्या करना चाहिए। महामति भीष्म दुर्योधन के अन्न से प्रतिपालित होकर भी पांडवों के अहितकारी न थे। उन्होंने दुर्योधन से कहा—

भीष्म—जिससे युधिष्ठिर आदि पांडवों के अनिष्ट की संभावना है, ऐसे विषयों में परामर्श देना मेरा कर्तव्य नहीं। मैं जैसा तुम्हारा शुभचिंतक हूँ, वैसा ही पांडवों का! मैं यह नहीं चाहता कि अज्ञातवास में पांडवों का तुम्हें पता मिले और वे बिचारे फिर बारह वर्ष तक निर्जन वन में रह-कर कष्ट उठावें। इस विषय में मैं जो कहता हूँ वह न्याय-सङ्गत है, मत्सरता-युक्त नहीं है। मुझसे अधिक धर्म और सत्य का मर्म जाननेवालों की आज्ञा है कि सभा में सदा न्यायानुगत और यथार्थ बात ही कहे। अतः मैं यदि यथार्थ बात न कहूँगा तो धर्म-भ्रष्ट होऊँगा। तुम जब मुझसे पूछते

ही हो, तब मैं तुमसे साफ साफ कहता हूँ कि युधिष्ठिर सत्य, धृति, क्षमा, तेजस्विता, सरलता आदि सद्गुणों का अद्वितीय पात्र है। वह जिस स्थान में रहेगा, वह स्थान उसके पुण्य-बल से दोष-स्पर्श-शून्य होगा। उस स्थान के अधिवासी सदाचारी और सत्कर्मों में निरत होंगे। युधिष्ठिर की असामान्य धर्म-बुद्धि से परिचालित होकर वे लोग सदा धर्म-मार्ग में विचरेंगे।

भीष्म यह कहकर चुप हो गए! द्रोणाचार्य आदि वयोवृद्ध और धर्मानुरागियों ने भीष्म के वचनों की पुष्टि की।

अनंतर दुर्योधन विराट् के सेनापति कीचक की मृत्यु का संवाद सुन उत्साहित हुआ और कर्ण प्रभृति के परामर्श से उसने भीष्म, द्रोण प्रमुख वीरों के साथ विराट् का गोधन हरण करने के अर्थ यात्रा की। गोगृह में कौरव-सभा के पहुँचते ही विराट्कुमार उत्तर सुसज्जित सैन्य लेकर गोधन की रक्षा के लिये उद्यत हुआ। बृहन्नला-वेष-धारी अर्जुन उत्तर के सारथी बने। किंतु जब अर्जुन ने उत्तर को कौरव वीरों के सामने चिंताकुल देखा, तब उन्होंने शमी वृक्ष पर रक्खा हुआ प्रसिद्ध गांडीव धनुष और तरकस उतरवा लिया। फिर वे उत्तर को सारथी बनाकर, स्वयं युद्ध करने को उद्यत हुए। कौरव-सेना ने गांडीव-धनुष-धारी अर्जुन को, सहज ही में, पहचान लिया। अर्जुन का असामान्य पराक्रम, प्रफुल्ल मुखमंडल और गांडीव धनुष से निकले हुए तीरों

का जाल देखकर भीष्म को प्रसन्नता और विस्मय दोनों साथ ही साथ हुए। जो स्वयं वीर होता है, वह वीर को देखकर प्रसन्न होता है और जो स्वयं कायर होता है वह वीर को देखकर जला भुना करता है। भीष्म स्वयं जगत्प्रसिद्ध वीर थे। अतः अर्जुन की वीरता देख वे क्यों प्रसन्न न होते? कौरवों में भीष्म और द्रोण को छोड़ अर्जुन के अस्त्र-प्रयोग-कौशल के गौरव को और कोई नहीं समझ सकता था। अर्जुन को युद्ध-वेश में देख भीष्म ने जान लिया कि अब हमारी जीत होनी असंभव है। अज्ञातवास की अवधि के भीतर अर्जुन का पता चल गया, अतः उन्हें फिर बारह वर्ष वनवास करना होगा, यह कहकर दुर्योधन-दल प्रसन्न हो रहा था। उस समय भीष्म ने कहा—

भीष्म—कुरुराज! पांडव कृतविद्य, लोभ-रहित और परम धार्मिक हैं। वे धर्म-भ्रष्ट होंगे, यह कभी संभव नहीं है। मैंने हिसाब लगाकर देख लिया है कि अज्ञातवास की अवधि को बीते पाँच मास हो चुके। यह जानकर ही अर्जुन प्रकट हुआ है। यदि पांडव अन्यायपूर्वक राज्य लेना चाहते, तो जिस समय जुए में उनके साथ कपट-व्यवहार किया गया था उसी समय वे फल चखा देते। वे भले ही प्राण दे दें, पर कभी असत्य-पथ का अनुसरण नहीं करेंगे।

यह कहकर भीष्म अर्जुन के अस्त्र-प्रयोग की प्रशंसा करने लगे। द्रोण से भी न रहा गया। वे भी अपने शिष्य की प्रशंसा

में योगदान करने लगे। किंतु दुर्योधन और कर्ण मारे अभिमान के स्वयं अपनी प्रशंसा आप करते थे। भीष्म ने कुरुराज का पक्ष ले लिया था, अतः उन्हें अर्जुन के विरुद्ध रणक्षेत्र में खड़ा होना ही पड़ा। वे व्यूह रचकर अर्जुन के साथ युद्ध करने को उद्यत हुए; किंतु समर में अर्जुन की जीत हुई। कौरव गोधन अपहरण में अकृतकार्य होकर हस्तिनापुर को लौट गए।

राजा विराट् उत्तर से अर्जुन का परिचय पाकर बहुत प्रसन्न हुए, पर जब कृष्णा-सहित पाँचों पांडवों का परिचय उन्हें दिया गया तब तो उनके आनंद की सीमा न रही। प्रसन्न होकर राजा विराट् ने अपनी कन्या अर्जुन को देनी चाही, किंतु एक वर्ष तक अर्जुन ने राजकुमारी को पढ़ाया था, वे जिस प्रकार अपनी शिष्या के प्रति स्नेह दिखलाते थे, वैसे ही उनकी शिष्या भी उनके प्रति भक्ति और श्रद्धा-युक्त बर्ताव करती थी। इन बातों पर विचार करके अर्जुन ने कहा कि उत्तरा का विवाह हमारे पुत्र के साथ कर दो। अर्जुन की इस बात को विराट् ने मान लिया। अनंतर श्रीकृष्ण, अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु और अन्य भाई बंदों को लेकर, विराट् की राजधानी में पहुँचे। राजा द्रुपद भी अपने संबंधियों के साथ उस विवाहोत्सव में सम्मिलित हुए। बड़ी धूमधाम से अभिमन्यु और उत्तरा का विवाह हुआ।

विवाहोत्सव के बाद पांडवों ने कृष्ण, द्रुपद आदि स्वजनों से परामर्श किया कि दुर्योधन के हाथ से राज्य क्योंकर

निकाला जाय। दोनों पक्षवालों में संधि स्थापन करने के अभिप्राय से राजा द्रुपद ने अपने पुरोहित को हस्तिनापुर भेजने का सिद्धांत निश्चित किया। पुरोहित ने हस्तिनापुर में पहुँचकर प्रतिहारी द्वारा अपने आने की सूचना धृतराष्ट्र को दिलाई। धृतराष्ट्र ने उसे सभा में उपस्थित करने की आज्ञा दी। प्रतिहारी पांचाल-राज के पुरोहित को सभा में लिवा ले गया। सभा-स्थित कौरवों ने पुरोहित की मान-मर्यादा बढ़ाई। ब्राह्मण जब आसन पर बैठ गया, तब उसने पांडवों का कुशल संवाद सुनाकर कौरवों का कुशल पूछा। अनंतर उसने धृतराष्ट्र तथा अन्य उपस्थित कौरवों के सामने, कड़े शब्दों में, दुर्योधन का तिरस्कार, पांडवों के गुण गौरव का कीर्त्तन और युधिष्ठिर की ओर से राज्य पाने की प्रार्थना की। धीरप्रकृति भीष्म ने ब्राह्मण के वचन सुनकर कहा—

भीष्म—भगवन्! सौभाग्य से पांडव कुशलपूर्वक काल-यापन कर रहे हैं। सौभाग्य से वे धर्म-पथ पर अटल बने हैं, सौभाग्य ही से वे अपनी संग्राम की अभिलाषा के बदले संधि की प्रार्थना करते हैं। आपने जो कहा है, उसकी सत्यता के विषय में हमें कुछ भी नहीं कहना है किंतु जिन शब्दों में आपने अपने भाव प्रकट किए हैं, वे मुझे कड़े लगे। जान पड़ता है, आपने ब्राह्मण-सुलभ स्वभाव के वशवर्ती होकर इस प्रकार की उग्रता का परिचय दिया है। जो हो, इसमें संदेह नहीं कि पांडवों को अरण्यवास में बड़े कष्ट उठाने पड़े हैं, अज्ञातवास

में उन्होंने बड़ी दुर्दशाएँ भोगी हैं और अब वे धर्मतः पैतृक राज्य पाने के अधिकारी हुए हैं ५. महारथी अर्जुन असामान्य क्षमताशाली है, इसमें भी अणुमात्र संदेह नहीं। जो अर्जुन का पराक्रम सह सके, त्रिभुवन में ऐसा कोई मनुष्य नहीं दीख पड़ता। दूसरों की तो बात ही क्या है, स्वयं देवराज इंद्र भी उसके साथ संग्राम करके उसे नहीं जीत सकते।

भीष्म इतना कहकर चुप हो गए। दुराशय कर्ण अर्जुन की प्रशंसा न सुन सका। वह दुर्योधन के मुख की ओर देखकर भीष्म की निंदा और ब्राह्मण का अनादर करने लगा, किंतु धीरप्रकृति भीष्म कर्ण के चापल्य और कठोर वचनों से धैर्यच्युत न हुए। उन्होंने आए हुए ब्राह्मण के न्याय-संगत वाक्यों का अनुमोदन किया और धैर्य्यपूर्वक उसके अनुचित कठोर वाक्यों को दिखाकर यथार्थवादित्व का परिचय दिया। इस समय उन्होंने धैर्य्यपूर्वक कर्ण से कहा—

भीष्म—हे कर्ण! तुम चाहे कितना अभिमान भले ही दिखा लो, किंतु तुम्हें उचित है कि एक बार अर्जुन के अतुलित वीरत्व का भी विचार करो। शांतिनिष्ठ ब्राह्मण ने जो कुछ कहा है, यदि हम तदनुसार न करेंगे तो हम लोग युद्ध में मारे जायँगे। हम पार्थ के शरों से विद्ध होकर धराशायी होंगे, इसमें संदेह नहीं।

धृतराष्ट्र ने यद्यपि कर्ण के तिरस्कार और भीष्म के वचनों का अनुमोदन तो किया तथापि वे दुर्योधन की इच्छा के

विरुद्ध पांडवों के साथ संधि करना नहीं चाहते थे। उन्होंने द्रुपद के पुरोहित को बिदा किया और अपने प्रेमपात्र संजय को पांडवों के पास भेजा।

संजय विराट् के घर पहुँचे। युधिष्ठिर ने सादर उनसे बातचीत की और गए दर्जे केवल पाँच गाँव, पाँचों भाइयों के निर्वाह के लिये, माँगकर परस्पर संधि स्थापित करनी चाही। संजय ने हस्तिनापुरी में आकर सारा हाल धृतराष्ट्र से कहा, किंतु दुर्योधन तो पांडवों के साथ मेल करना ही नहीं चाहता था, इसी से वह, पाँच गाँवों की भी ममता त्याग कर, शांति-स्थापन करने को उद्यत न हुआ। वह युद्ध की तैयारियाँ करने लगा। तब श्रीकृष्ण स्वयं पांडवों के दूत बनकर दोनों दलों में मेल कराने के अभिप्राय से हस्तिनापुरी गए। भीष्म श्रीकृष्ण के आगमन का समाचार सुन उनकी अगवानी और उनके स्वागत का प्रबंध करने लगे। किंतु भीष्म की तरह धृतराष्ट्र ने महानुभावता का परिचय नहीं दिया। उन्होंने श्रीकृष्ण को बहुमूल्य भेंट चढ़ाकर और अपनी समृद्धि दिखलाकर अपने वश में करना चाहा। इस विषय में धृतराष्ट्र ने किसी की भी बात न मानकर वासुदेव जिस मार्ग से आनेवाले थे उस पर बड़ी सजावट करवाई और जो स्थान उनके ठहरने को निश्चित किया गया था, उसमें अनेक प्रकार के भोज्य पदार्थों का ढेर लगवा दिया।

भीष्म ने धृतराष्ट्र का अभिप्राय समझ बहुत दुःखी होकर कहा—

भीष्म—वत्स ! चाहे तुम श्रीकृष्ण की अभ्यर्थना करो, चाहे न करो, वे कभी क्षुब्ध न होंगे। वे असाधारण क्षमताशाली हैं। उनकी तेजस्विता अतुल्य है, उनकी कर्त्तव्य-बुद्धि विलक्षण है। वे लोभ में पड़कर कभी धर्म को विसर्जन न करेंगे। वे दोनों में मेल-जोल कराने ही को आ रहे हैं। वे जो कुछ कहें, उसे संशय छोड़कर मानना तुम्हारा कर्त्तव्य है। तुम उस महापुरुष के परामर्शानुसार पांडवों से संधि कर लो। पांडव तुम्हारे पुत्र के बराबर हैं और तुम उनके पितृ-स्थानीय हो। वे बालक हैं, तुम वृद्ध हो। वे तुमको पिता के समान मानते हैं, तुम भी उनको संतान के सदृश मानो।

यह कहकर भीष्म चुप हो गए। दुर्योधन पांडवों के साथ मेल करने की अनिच्छा प्रकट करने लगा। यही नहीं किंतु उसने श्रीकृष्ण को हस्तिनापुर में घेरना चाहा। दुर्योधन की इस दुरभिसंधि से भीष्म का प्रकृतिसिद्ध धैर्य्य छूट गया, उनके प्रशस्त ललाट पर सिकुड़न पड़ गई और नेत्र लाल हो गए। बड़े क्रोध में भरकर भीष्म ने धृतराष्ट्र से कहा—

भीष्म—राजन् ! तुम्हारे इस पुत्र ने तुम्हारी बुद्धि को भ्रष्ट कर डाला। तुम्हारे सुहृद् सदा तुम्हारी शुभकामना करते हैं, पर यह तुम्हें धूल के चौक पर बिठाना चाहता है। बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि तुम सुहृदों की बातों की उपेक्षा

करते हो और इस उत्पाती पापात्मा के पीछे लगते हो। तुमसे मैं और अधिक तो क्या कहूँ, परंतु यदि दुरात्मा दुर्योधन ने श्रीकृष्ण के साथ नीचता की, तो याद रक्खो तुम्हारा समूल नाश हो जायगा। इस दुरात्मा की बात मुझसे किसी प्रकार नहीं सुनी जाती।

यह कहकर भीष्म मारे क्रोध के धृतराष्ट्र के पास से उठकर चल दिए। धृतराष्ट्र भी दुर्योधन के कठोर वाक्यों से व्यथित होकर उससे बोले—

धृतराष्ट्र—वत्स ! ऐसी बात मुँह से मत निकालना। यह बात धर्मसंगत नहीं है। श्रीकृष्ण दूत बनकर आते हैं। विशेषकर वे हमारे आत्मीय और प्रिय हैं, उनको पकड़कर रोक रखना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं।

यह कहकर धृतराष्ट्र श्रीकृष्ण के आगमन की प्रतीक्षा करने लगे। उधर श्रीकृष्ण ने कौरवों की सुसज्जित रत्नराजि की ओर आँख उठाकर भी न देखा।

भीष्म दुर्योधन से अति क्रुद्ध होकर भी कर्त्तव्य-पथ से विचलित न हुए। उन्होंने द्रोण-सहित आगे जाकर श्रीकृष्ण की अगवानी की। श्रीकृष्ण ने भी रथ से उतरकर बड़े विनीत भाव से कौरवों की यथायोग्य संवर्द्धना की। अनंतर वे सीधे विदुर के घर गए और उन्होंने कुंती को प्रणाम कर पांडवों का कुशल-संवाद सुनाया। श्रीकृष्ण के स्वागत में किसी प्रकार की त्रुटि न होने पावे, भीष्म को सदा इसी का विचार रहता था।

वे द्रोणाचार्य और कृपाचार्य के साथ विदुर के घर गए और वहाँ श्रीकृष्ण की आज्ञा की प्रतीक्षा करने लगे। श्रीकृष्ण उनके इस बर्त्ताव से प्रसन्न हुए और उन्होंने बड़ी शिष्टता के साथ उन्हें बिदा किया।

अगले दिन सुसज्जित सभा-मंडप में भीष्म प्रमुख कौरव, द्रोण प्रमुख आचार्य और कर्ण प्रमुख सेनापति एकत्र हुए। पुरवासी भी अपने निर्दिष्ट स्थानों पर आकर बैठ गए। श्रीकृष्ण सभागृह में पहुँचे। भीष्म, धृतराष्ट्र आदि ने खड़े होकर उनका स्वागत किया। अनंतर जब सब लोग अपने अपने स्थानों पर बैठ गए तब संधि की बात छेड़कर श्रीकृष्ण ने दुर्योधन को संबोधन करके कहा—

श्रीकृष्ण—दुर्योधन ! कौरववंश के लिये हितकर वाक्य सुनो। तुम्हारा जन्म महाप्रतापी भरत के वंश में हुआ है, तुम्हारे पूर्वपुरुष सदाचारी और सत्कार्यों के अनुष्ठान के लिये जगत् में बहुत दिनों से प्रसिद्ध हैं। तुम भी शास्त्र-ज्ञान और सदाचार प्रभृति सद्गुणों के अधिकारी हो। अतएव पांडवों के साथ मेल कर लेना ही तुम्हारा कर्त्तव्य है। तुमने जैसा विचारा है, वह दुष्कुलजात, निर्बोध और निर्लज्ज व्यक्ति ही को छज सकता है, तुमसे उच्च कुलोद्भव को ऐसे विचार शोभा नहीं देते। तुम्हारे दुर्व्यवहार से भलाई न होकर बुराई ही होगी। अतः तुम उस अनर्थकर संकल्प को छोड़कर, अपना, अपने भाइयों का और अपने इष्ट-मित्रों का मंगल

करो। यदि तुम पांडवों के साथ मेल कर लोगे तो भीष्म, द्रोण और धृतराष्ट्र बहुत ही प्रसन्न होंगे। इसका फल यह होगा कि दोनों ओर मंगल होगा। दोनों की प्रजा आनंद-पूर्वक दिन बितावेगी। तुम सत्कुल में जन्मे हो, तुमने यथा-नियम शास्त्राभ्यास भी किया है। राजसिंहासन पर बैठकर तुम राजधर्म-पालन की प्रतिज्ञा भी कर चुके हो। अब इस समय शास्त्रीय विधि का पालन और प्रजा को संतुष्ट करना तुम्हारा कर्त्तव्य है। भाई बंदों के साथ विरोध करने से शास्त्र की अवमानना होगी, प्रजा में असंतोष फैलेगा और तुम्हारी अपकीर्त्ति होगी। पिता की बात को न मानना पुत्र का कर्त्तव्य नहीं। तुम्हारे पिता की इच्छा है कि तुम पांडवों के साथ मेल कर लो। तुम्हारे अन्य गुरुजनों की भी यही अभि-लाषा है। तुम्हारा मंत्रि-मंडल भी इससे सहमत है। तुम्हें उचित है कि तुम इसे मान लो। जो व्यक्ति अपने लोगों की बात नहीं मानता, अंत में उसे पछताना पड़ता है। उसे अनेक प्रकार की दुर्दशाएँ झेलनी पड़ती हैं। ऐसे मनुष्य का उसके इष्ट-मित्र और भाई बंद कभी साथ नहीं देते। वह सदा अपनी मृत्यु की प्रतीक्षा किया करता है।

जिस समय श्रीकृष्ण ने ऐसी बातें कहीं, उस समय सभा-गृह में सन्नाटा छा गया। श्रीकृष्ण दुर्योधन को समझाते हुए फिर कहने लगे—

श्रीकृष्ण—भाई! पांडव ऐसे धर्मपरायण हैं कि आजन्म

तुमने उन्हें सताया, ठगा और जहाँ तक अन्याय हो सकता था तुमने उन पर किया, किंतु आज तक उनमें से किसी ने भी तुम्हें उसका बदला नहीं दिया। वे अब भी तुमको अपना भाई ही समझ रहे हैं। ऐसे भाइयों के साथ अन्याय करना कभी उचित नहीं।

जो व्यक्ति विलासी होते हैं, वे ही धर्मपथ से विचलित होते हैं और उनका कभी कल्याण नहीं होता। दुर्योधन! तुम नीच लोगों की तरह, अत्यंत गर्हित उपायों का अवलंबन करके सुविस्तृत साम्राज्य को अकेले ही भोगा चाहते हो। किंतु तुम्हारी यह वासना कभी फलवती न होगी। तुम अपनी बुद्धि के सामने पिता जैसे वृद्ध और अनुभवी गुरुजनों के हित-कर उपदेशों की उपेक्षा करते हो और दुष्ट दुःशासन और दुरात्मा कर्ण के अहितकर वचनों पर आस्था करते हो। क्या ऐसा करने से कभी तुम्हारा कल्याण हो सकता है ?

दुर्योधन! विचारो, पांडव कैसे धर्म्मात्मा हैं, कैसे सर्व-लोकप्रिय हो रहे हैं और वे कैसे पराक्रमशाली हैं। यदि तुमने हमारा कहना न माना तो युद्ध अवश्य ही होगा। उस समय यह तो बतलाओ, तुममें कौन ऐसा है जो अमित पराक्रम-शाली वृकोदर एवं महारथी धनंजय का सामना कर सके? भीमसेन और अर्जुन को हरानेवाला इस समय त्रिलोक में कोई नहीं दीख पड़ता। तुम विराट्-नगर में अर्जुन के असा-मान्य वीरत्व का परिचय पा चुके हो। ऐसे वीरों के साथ युद्ध

छिड़ने पर सिवाय लोकक्षय के और क्या लाभ हो सकता है? तुम भी पराजित होकर अपने पापों का फल ही भोगोगे। भाई, जाति और बांधवों की ओर देखो। ऐसा करो जिससे तुम्हारे पीछे इन्हें विनष्ट न होना पड़े। यदि तुम्हारे पीछे इस चिर प्रसिद्ध कुल का नाश हुआ, तो लोग अवश्य तुम्हें कुलघ्न कहेंगे। जो महानुभाव होते हैं वे सामान्य से सामान्य पुरुष का भी अपमान नहीं करते। पांडवों के समान क्षमताशाली, परम धार्मिक और परम संतोषी व्यक्तियों की अवमानना करने से लोग तुम्हारा नाम धरेंगे। अतएव हे दुर्योधन, तुम स्वजनद्रोही न बनकर पांडवों को आधा राज्य दे दो। युधिष्ठिर आधा राज्य पाकर भाइयों-सहित सुख से समय बितावेंगे। तुम भी स्वजनों के प्रीति-भाजन और महती संपत्ति के अधिकारी बनकर कुशल-पूर्वक प्रजा का पालन करना।

लोकहितार्थी वासुदेव इस प्रकार दुर्योधन को उपदेश देकर चुप हो गए। उनके न्यायसंगत वचनों को सुन, दुर्योधन और उस जैसे कुछ क्रूरमति सभासदों को छोड़, सबने श्रीकृष्ण की बातों का अनुमोदन किया। श्रीकृष्ण ने सन्नीति-अनुसारिणी युक्तियों के साथ भ्रातृ-विरोध की अनिष्टकारिता समझाई और आत्म-कुलक्षयकर समर के शोच्य परिणाम का दिग्दर्शन कराया। उनके उपदेशपूर्ण वचनों को सुनकर भीष्म से न रहा गया, वे दुर्योधन से कहने लगे—

भीष्म—वत्स ! सुहृदों की भलाई की प्रेरणा से श्रीकृष्ण ने जो कुछ कहा है, तुम उसे मान लो। क्रोध अथवा विद्वेष के वशवर्त्ती कभी मत होओ। यदि तुम श्रीकृष्ण के उपदेश-वाक्यों की उपेक्षा करोगे तो स्मरण रक्खो तुम्हारे लिये भलाई न होगी। श्रीकृष्ण ने जो कुछ कहा है सो न्यायानुमोदित और धर्म-संगत है। उसे मान लो और प्रजा को नष्ट होने से बचाओ। मैं तुमसे बहुत दिनों से यही कहता चला आता हूँ, पर तुम मेरे कहने पर ध्यान न देकर कर्ण आदि की बातों के अनुसार ही चल रहे हो। अब यदि तुम श्रीकृष्ण का कहा न मानोगे तो स्मरण रक्खो, तुम्हारी बड़ी दुर्दशा होगी। तुम्हारे अत्याचारों से कुरुकुल की राजलक्ष्मी अंतर्हित हो जायगी, तुम्हारे अहंकार से कौरवों का नाश होगा, तुम्हारी करतूत से तुम्हारे माता-पिता को गहरे शोकसागर में निमग्न होना पड़ेगा। अभी तक धनंजय और वासुदेव ने कवच धारण नहीं किया, अभी तक गांडीव धनुष पर रोदा नहीं चढ़ाया गया, अभी तक वृकोदर युद्ध-वेश धारण कर रणक्षेत्र में अवतीर्ण नहीं हुआ, अभी तक महायुद्ध की तैयारी की घोषणा युधिष्ठिर की ओर से प्रचारित नहीं हुई। इससे अब भी तुम दुरभिसंधि परित्यागकर, भ्रातृस्नेह के वशवर्त्ती हो, युधिष्ठिर को प्रणाम करो। युधिष्ठिर प्रेमपूर्वक तुम्हें गले लगावेगा। इसी से तुम्हारा कल्याण होगा। ऐसा करने से इस समय अर्जुन, भीम आदि जो तुम्हारे विपक्षी हैं वे ही तुम्हारे हितैषी हो जायँगे।

तुम्हारे माता-पिता आनंदपूर्वक समय बितावेंगे। समस्त कुरुराज्य में शांति विराजेगी।'

'बेटा! मैंने जिस राज्य को परित्याग कर दिया है, तुम उसी के लिये शोकावह भ्रातृविरोध में प्रवृत्त होते हो। इससे बढ़कर परिताप की और क्या बात हो सकती है? मैं सदैव तुम्हारी भलाई ही चाहा करता हूँ। तुम्हारे पिता को जन्मांध होने के कारण राज्य नहीं मिला। उनके बदले महात्मा पांडु राजसिंहासन पर बैठे। इस समय, उनके राजा होने से, उनके पुत्रों का उस राज्य पर पूर्ण अधिकार है। तुम लड़ाई झगड़ा छोड़कर भाइयों से मेल कर लो।

बेटा! मेरी बातों पर अश्रद्धा मत दिखलाना। तुम और पांडव मेरे निकट दोनों ही समान हो। मैं उभय पक्ष की मंगल-कामना से ये बातें कहता हूँ। मैंने जो कहा है वही तुम्हारे पिता एवं आचार्य द्रोण और विदुर भी चाहते हैं। मेरा कहा मानकर अपने लोगों का भला करो। व्यर्थ भ्रातृ-विरोध में प्रवृत्त होना किसी प्रकार उचित नहीं।

यह कहकर भीष्म चुप हो गए। द्रोण, विदुर आदि दूर-दर्शी मंत्रियों ने भीष्म के वाक्यों का अनुमोदन किया। पति-प्राणा गांधारी ने भी, धृतराष्ट्र के आदेशानुसार सभा में आकर, दुर्योधन को समझाया। किंतु इतनी कहा सुनी होने पर भी दुर्योधन को तिल भर भी प्रबोध न हुआ, उसने किसी का भी कहना न माना। उसने बिना किसी संकोच के श्रीकृष्ण

से कहा—"मैं जब तक पराधीन और बालक था, पिता ने अज्ञानतावश हो अथवा डरकर ही हो, मेरा राज्य पांडवों को दे दिया था। अब तो जब तक मेरे शरीर में प्राण हैं, तब-तक यह राज्य पांडवों को कभी नहीं मिल सकता। अधिक तो क्या, सुतीक्ष्ण सुई के अग्रभाग द्वारा जितनी भूमि विध सकती है, मैं उतनी भूमि भी पांडवों को न दूँगा।" यह कहकर दुर्योधन चुप हो गया।

धृतराष्ट्र ने श्रीकृष्ण के वाक्यों का अनुमोदन तो किया, पर दुर्योधन की अनिच्छा देख, पांडवों के साथ मेल न किया। श्रीकृष्ण अकृतकार्य होकर और भीष्म आदि गुरुजनों से विदा माँगकर युधिष्ठिर के पास लौट गए।

अवश्यंभावी महायुद्ध में कुरुकुल के विनाश का समय उपस्थित हुआ।

आठवाँ अध्याय

महाभारत का युद्ध और भीष्म का परलोक-गमन

भीष्म इस अनिवार्य आत्मविरोध से मर्माहत हुए। वे शांति के एकांत पक्षपाती और भ्रातृ-विरोध के एकांत विद्वेषी थे। इसी से उन्हें पांडवों का पक्ष समर्थन करने में विशेष प्रयास करना पड़ा था। उनका विश्वास था कि जब श्रीकृष्ण ने स्वयं दौत्य करना स्वीकार किया है, तब अवश्य ही दोनों पक्षवालों में संधि हो जायगी। इसी आशा और विश्वास के भरोसे उन्होंने श्रीकृष्ण के प्रस्तावानुसार कार्य करने का अनुरोध दुर्योधन से किया था। जिस समय श्रीकृष्ण ने सुसज्जित सभा-मंडप में बैठकर कौरवों के सामने दुर्योधन से पांडवों के हिस्से का राज्य देने को कहा था उस समय भीष्म ने उनके कथन का अनुमोदन किया था। जिस समय दुर्योधन संधि के प्रस्ताव को सुन अत्यंत विरक्त और क्रुद्ध हुआ, तथा दुरात्मा दुःशासन के कहने में आकर, गुरुजनों का अनादर करके सभा-भवन से उठकर चला गया, उस समय भी भीष्म ने भ्रातृ-विरोध से सर्वनाश होने की धमकी देकर उसे शांत करने का यत्न किया था। जिस समय शोकाकुल कुंती ने श्रीकृष्ण के सामने कहा था कि मेरे पुत्र क्षत्रिय धर्म से तिल भर भी विचलित न होंगे, क्योंकि उनका जन्म

शत्रुओं के नाश के लिये ही हुआ है, उस समय भी भीष्म ने भीम का लोकातीत बाहुबल, अर्जुन का असामान्य पराक्रम वर्णन कर, दुर्योधन को पांडवों के साथ मेल कर लेने का परामर्श दिया था। किंतु भीष्म के उपदेश, परामर्श एवं अनुरोध का कुछ भी फल न हुआ। दुर्योधन ने किसी का भी कहना न मानकर युद्ध की तैयारियाँ कीं। उधर पांडवों को भी क्षत्रिय धर्म के वशवर्त्ती होकर, युद्ध के अनुष्ठान का संकल्प करना पड़ा। थोड़े ही दिनों में दोनों ओर के मित्र और आत्मीय भूपतिगण अपनी अपनी सेनाएँ साथ लेकर एकत्र हुए। दोनों दलवालों ने अपनी अपनी सेनाओं के विभाग किए और पृथक् पृथक् भाग के पृथक् पृथक् सेनापति नियुक्त किए। सुविस्तृत धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में दोनों ओर की सेनाओं की मोरचाबंदी हुई। मोरचाबंदी होने के बाद ही दोनों ओर की सेनाओं में मारू बाजे बज उठे।

दुर्योधन ने सबसे प्रथम भीष्म ही को अपनी ओर की सेनाओं का प्रधान सेनापति बनाया। भीष्म कुरुराज के आज्ञाकारी थे, अतः वे दुर्योधन का कहना न टाल सके। परंतु उन्होंने उससे कहा—

भीष्म—वत्स! तुम्हारी बात को मैं टाल तो नहीं सकता किंतु तुम्हारी तरह पांडव भी मेरे प्रिय पात्र हैं, अतः उनको भी परामर्श देना मेरा कर्त्तव्य है। मैं अपने पूर्व प्रतिज्ञानुसार तुम्हारे ही पक्ष में रहूँगा और पांडवों में वीरप्रवर धनंजय

को छोड़ इस भूमंडल पर मेरे जोड़ का और कोई है ही नहीं। जो हो, न्यायानुसार उसके साथ युद्ध करने में मैं विमुख न होऊँगा।

भीष्म ने यह कहकर कौरवों की सेनाओं का सेनापति होना स्वीकार किया और युद्ध का समय निर्दिष्ट कर, युद्ध की नियमावली भी निर्द्धारित की। भीष्म जैसे असाधारण पराक्रमी थे, वैसे ही धर्मात्मा भी थे। युद्ध में किसी प्रकार का अधर्म कार्य न बन पड़े, इस अभिप्राय से उन्होंने अपनी ओर के और प्रतिपक्षी की ओर के सेनापतियों के साथ मिलकर, युद्ध आरंभ होने के पूर्व ही नियमावली बना डाली। युद्ध में कोई किसी को धोखा न दे, युद्ध बराबरवालों में हो, दोनों पक्षों द्वारा इस प्रकार नियम निश्चित होने पर अर्जुन युद्ध-क्षेत्र में अग्रसर हुए। किंतु रण-भूमि में पहुँचते ही अर्जुन ने ज्योंही सामने भीष्म पितामह और द्रोणाचार्य प्रभृति गुरुजनों को देखा, त्योंही उनके मन में बड़ा विषाद उत्पन्न हुआ। ललाट पर सिकुड़न पड़ गई और प्रसन्न मुखमंडल मलिन पड़ गया। उन्होंने उदास होकर श्रीकृष्ण से कहा—

अर्जुन—मित्र! मेरे सामने पलितकेश भीष्म पितामह खड़े हैं, मेरे परमगुरु द्रोण खड़े हैं। इनके दर्शन करने से मेरा शरीर सुन्न पड़ गया है, मुख सूख रहा है और हाथ पैर ढीले पड़ गए हैं। हाथ से गांडीव छुटा पड़ता है। मन विकल हो रहा है। लड़कपन में जब मैं धूल में खेलता था, तब एक बार

पितामह ने मुझे गोद में उठा लिया था। उनके दोनों बाहु धूल में सन गए थे। मैं उनका आधा नाम पिता पिता लेने लगा। तब उन्होंने मुसकराकर बड़े स्नेह से मेरा मुख-चुंबन किया और कहा—'बेटा! मैं तेरे पिता का पिता हूँ।' अब मैं उन्हीं अपने परम पूज्य वृद्ध पिता के पिता पर कैसे शस्त्र चलाऊँ? उनकी वह स्नेहभरी चितवन, स्नेहपगे वचन, वह निरुपम वात्सल्य स्मरण करने से मेरे मन में बड़ी पीड़ा उत्पन्न होती है। मेरा हृदय काँप उठता है। माथा घूमने लगता है और नेत्रों के सामने अँधेरा छा जाता है। न तो मुझे जयश्री चाहिए और न राज्य। जिनके लिये राज्य, जिनके लिये संपत्ति और जिनके लिये सुख की आवश्यकता है, वे ही आज युद्ध में अपने प्राण देने का संकल्प कर मेरे सामने खड़े हैं। ऐसी दशा में मैं राज्य लेकर ही क्या करूँगा? वे भले ही मुझे मार डालें, किंतु मैं उन पर हाथ न उठाऊँगा। यह ससागरा पृथ्वी भले ही दुर्योधन ले ले, धृतराष्ट्र-पुत्रों को आनंद से समय बिताने दीजिए, उन्हें सारे सांसारिक सुख भोगने दीजिए, मैं युद्ध नहीं करूँगा।

यह कहकर अर्जुन ने गांडीव धनुष रख दिया और वह उदास हो रथ में एक ओर बैठ गया।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को इस प्रकार शोक-विमुग्ध देखकर कहा—

श्रीकृष्ण—सखे! तुम त्यागी पुरुष की तरह ठीक कहते हो, किंतु तुम्हारे ये वचन क्षत्रियोचित नहीं हैं। तुमने

क्षत्रियकुल में जन्म ग्रहण किया है। तुम क्षत्रियों द्वारा, क्षत्रियोचित नियमों से पाले पोसे और शिक्षित हुए हो। इस समय क्षत्रिय धर्म का पालन करना ही तुम्हारा कर्त्तव्य है। आत्मीय हो या बंधु ही क्यों न हो, वृद्ध हो या बराबर का हो, जो धर्मयुद्ध में आगे आवे उसके साथ न्यायानुसार युद्ध करना ही क्षत्रियों का धर्म है। जो क्षत्रिय अपने इस धर्म को विसर्जन करता है वह मरने पर नरकगामी होता है। तुम क्षत्रिय होकर, अपने धर्म की उपेक्षा मत करो, गांडीव को उठाकर युद्ध में प्रवृत्त हो। तुम वीरेंद्र समाज में पूज्य बनो, तुम युद्ध में विजय-लक्ष्मी पाकर पुरवासियों के श्रद्धा-भाजन बनो।

यह कहकर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को युद्ध करने के लिये फिर उद्यत किया।

अनंतर युधिष्ठिर अस्त्र रखकर भीष्म के समीप गए और विनीत भाव से उनके चरणों में सीस नवाकर कहने लगे—

युधिष्ठिर—आर्य्य ! मैं आपके साथ युद्ध करूँ ? प्रसन्न मन से मुझे अनुमति और आशीर्वाद दीजिए।

यह सुन भीष्म ने बड़े स्नेह से युधिष्ठिर को देखा और उन्हें गले लगाकर वे बोले—

भीष्म—वत्स ! यदि तुम मुझसे अनुज्ञा लेने मेरे पास न आते तो मैं बहुत असंतुष्ट होता। इस समय तुम्हारे आने से

मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूँ और अनुमति देता हूँ कि तुम बिना किसी प्रकार के संकोच के क्षत्रिय धर्म का पालन करो। मनुष्य अन्न का दास है। युवावस्था में, मैंने राज्य परित्याग-कर, कुरुराज के अन्न से अपने शरीर को पाला है। इस समय मुझे बुढ़ापे ने आ घेरा है। इतने दिनों तक जिसके अन्न से जीवित रहा इस समय उसकी आज्ञा का पालन करना ही मेरा कर्त्तव्य है। मेरे लिये तुम और धृतराष्ट्र के पुत्र, दोनों ही बराबर हो। किंतु मैं धृतराष्ट्र-तनय का अन्न खाता हूँ, अतः प्रतिपालक प्रभु की आज्ञा न मानने से मैं धर्म-भ्रष्ट होऊँगा।

यह कहकर भीष्म चुप हो गए। युधिष्ठिर पितामह को प्रणामकर और उनसे बिदा माँग अपने शिविर में लौट आए।

अनंतर दोनों ओर की सेनाओं का आमना-सामना हुआ और तुमुल युद्ध आरंभ हुआ। भीष्म ने नौ दिन तक अतुल्य विक्रम और असामान्य तेजस्विता के साथ युद्ध किया। नौ दिन तक पांडवों में से कोई भी वृद्ध पितामह को न परास्त कर पाया। वीरप्रवर वृद्ध होने पर भी युवकों जैसी तेजस्विता और फुर्ती के साथ असाधारण क्षमता का परिचय देने लगे। इधर नवयौवन-संपन्न अर्जुन भी बड़ी फुर्ती से बाण चलाकर विपक्षियों को विकल करने लगे। रथों की घड़घड़ाहट, घोड़ों की हिनहिनाहट, हाथियों की चिग्घार और समरमत्त सैनिकों

के भैरव-रव से रणभूमि भयंकर हो गई। घोड़ों के दौड़ने और रथ के पहियों के घूमने से धूल उड़कर चारों ओर छा गई। उस अंधकार में अपने पराये को पहचानने में दोनों पक्षवालों को कठिनाई पड़ी। समरभूमि, सैनिकों और गजाश्वों के कटे हुए शरीरों से निकले हुए रक्त से, अस्तोन्मुख सूर्य की लालिमा से रंजित आकाश की तरह लाल हो गई।

धर्मपरायण भीष्म के कारण दोनों पक्षवालों में से किसी ने भी इस महायुद्ध में धर्मसंगत नियमों का उल्लंघन न किया। किसी ने भी विपक्षी को हराने के लिये अन्याय रूप से युद्ध करने की इच्छा न की। रथी रथी के साथ, गजारोही गजारोही के साथ, अश्वारोही अश्वारोही के साथ एवं पैदल पैदल के साथ अपनी अपनी योग्यता के अनुसार युद्ध करने लगे। जो व्यक्ति सैनिक दल से अलग हो जाता, उस पर कोई भी अस्त्र नहीं चलाता था। क्षीणशस्त्र और भयभीत व्यक्ति पर भी अस्त्र नहीं चलाए जाते थे। जो वर्मशून्य या युद्ध छोड़ भाग खड़े होते, अथवा जो शरणागत होते अथवा दूसरों के साथ युद्ध में प्रवृत्त होते, विपक्षी उन पर अस्त्र नहीं चलाते थे। वीर पुरुष अपने विपक्षी को पहले सावधान करके उसके साथ न्यायानुसार युद्ध करते थे। महामति भीष्म ने प्रतिष्ठित नियमानुसार कुरुक्षेत्र में कौरव और पांडवों की सेनाओं के वीर पुरुषों ने इस प्रकार वीरधर्म की सम्मान-रक्षा की। आजन्म विवाह न करने की और अखंड

ब्रह्मचर्य धारण करने की ,पिता के सामने जिन्होंने एक बार प्रतिज्ञा कर पितृभक्ति और सत्यप्रतिज्ञता की पराकाष्ठा दिखलाई थी, उन्होंने सत्यपाश में बँधकर पराधीनता-स्वीकार-पूर्वक पूर्व महत्त्व का परिचय दिया। ' विषय भोगों से निःस्पृह होकर जिन्होंने आत्म-संयम से जीवधारियों को विस्मित किया था, इस समय उन्होंने पूर्ववत् न्यायपरायणता का परिचय देकर कुरुक्षेत्र के महासमर में धर्म का प्राधान्य प्रतिष्ठित किया।

वीरश्रेष्ठ भीष्म के असामान्य पराक्रम से पांडवों की ओर के बहुत से वीर मारे गए। अंत में अर्जुन श्रीकृष्ण के परा-मर्श से द्रुपदतनय शिखंडी को आगे करके भीष्म के साथ युद्ध करने लगे। भीष्म का यह नियम था कि वे स्त्री अथवा नपुंसक पर कभी हाथ नहीं उठाते थे। इसी से उनके शिखंडी के तीर न मारने पर भी वह उन पर बराबर अस्त्र चलाता था। उधर अर्जुन भी उनके ऊपर बाणों की वर्षा कर रहे थे। भीष्म शिखंडी के बाणों से घायल होकर भी उस पर बाण नहीं चलाते थे। वे अर्जुन को लक्ष्य करके शरवृष्टि करने लगे। महापुरुष का लोकोत्तर चरित इस प्रकार के पवित्र भावों से पूर्ण था। शिखंडी बराबर उनको घायल कर रहा था, किंतु वीरश्रेष्ठ, वृद्ध महापुरुष ने वीर धर्म का अपमान न किया, यहाँ तक कि अंतिम काल में भी वे अपनी प्रतिज्ञा से न डिगे। उन्होंने शिखंडी की ओर आँख उठाकर भी न देखा और अर्जुन

ही पर बड़े वेग से आक्रमण किया। धीरे धीरे शिखंडी और अर्जुन के चलाए बाणों के मारे उनका शरीर जर्जरित हो गया। वे बार बार शरों के आघात से कातर हुए। उनके शरीर में एक अंगुल भी ऐसा स्थान न था जिसमें तीर न बिंधा हो। अविश्रांत शराघात से भीष्म पितामह धीरे धीरे परिश्रांत और हतोत्साह हुए। उनका शरीर सुन्न पड़ गया, नेत्र बंद होने लगे और साँस घुटने लगी। वे सायंकाल होते ही रथ से नीचे गिर पड़े। रथ से गिरने पर भी भीष्म पृथिवी पर न गिरे। उनके शरीर में इतने बाण चुभे थे कि वे तीर ही उनके लेटने के लिये शय्या के समान बन गए। भीष्म उस शय्या पर पड़े पड़े सूर्य के उत्तरायण होने की प्रतीक्षा करने लगे।

भीष्म को रथ से गिरते देख कौरवों की सेना में हाहाकार मच गया। तुरंत दोनों ओर के सैनिकों ने लड़ाई बंद कर दी। अनंतर पांडव और दुर्योधन प्रभृति कौरव अपने अपने अस्त्र-शस्त्र रखकर भीष्म के समीप गए और नेत्रों में आँसू भरकर और प्रणाम करके हाथ जोड़े खड़े रहे। भीष्म ने उन्हें सामने खड़े देख, प्रसन्न मन से सबसे कुशल-प्रश्न किया। फिर दुर्योधन और उसके भाइयों को संबोधन करके वे बोले—

भीष्म—इस समय मेरा मस्तक नीचे लटक रहा है, अतः मेरे सिर के नीचे तकिया लगाओ।

यह सुनकर कौरव दौड़ पड़े और उन्होंने बड़े कोमल

अनेक तकियों का ढेर लाकर लगा दिया। भीष्म ने उनको न लेकर हँसकर कहा—

भीष्म—ये सब तकिए इस शय्या के योग्य नहीं हैं।

यह कहकर वे अर्जुन की ओर देखने लगे। अर्जुन ने उनका अभिप्राय समझ और आँखों में आँसू भरकर उन्हें प्रणाम किया और कहा—

अर्जुन—आर्य ! यह आपका दास अर्जुन उपस्थित है। उसे क्या आज्ञा होती है ?

भीष्म—वत्स ! मेरा मस्तक निरवलंब है। तुम धनुर्धारियों में श्रेष्ठ और क्षत्रिय धर्म से अभिज्ञ हो। अतः उपयुक्त तकिया लगा दो।

यह सुन अर्जुन ने भीष्म के चरणों में अपना सीस रक्खा और अपने गांडीव धनुष पर तीन बाण रखकर भीष्म के सिर के पिछले भाग को वेध दिया। इन तीनों के सहारे भीष्म का सिर टिक गया। भीष्म ने जो चाहा था, अर्जुन ने वही किया।

भीष्म अर्जुन के इस कार्य से प्रसन्न हुए और उनसे बोले—

भीष्म—बेटा ! तुमने मेरी शय्या के योग्य ही तकिया लगाया है। समरक्षेत्र में इसी प्रकार की शय्या और तकिए पर सिर रखकर लेटना, धर्मनिष्ठ क्षत्रियों का कर्त्तव्य है।

इसके बाद उन्होंने अगल बगल बैठे हुए महीपालों को संबोधन करके कहा—

भीष्म—राजागण ! देखो, वीरश्रेष्ठ अर्जुन ने कैसा सुंदर तकिया लगाया है। जब तक सूर्य्य उत्तरायण न होंगे, तब तक मैं इसी शय्या पर पड़ा रहूँगा। दिवाकर के उत्तरायण होने पर मैं शरीर त्याग दूँगा। तुम लोग अब शत्रुता छोड़कर युद्ध बंद करो।

यह कह भीष्म चुप हो गए। इसके बाद दुर्योधन के भेजे जर्राह उत्तमोत्तम औषधियाँ और मलहम पट्टी लेकर भीष्म के निकट गए। उनको देखकर भीष्म ने दुर्योधन से कहा—

भीष्म—बेटा ! इन्हें पुरस्कार द्वारा संतुष्ट कर बिदा करो। मुझे क्षत्रिय-धर्म-विहित परमगति मिली है। ऐसी अवस्था में मुझे चिकित्सकों की आवश्यकता नहीं है। मेरा शरीर इन सब शरों-सहित जलाना पड़ेगा।

यह सुन दुर्योधन ने चिकित्सकों को भेंट पूजा दे बिदा किया। वीर क्षत्रिय, भीष्म की अमानुषी कर्त्तव्यनिष्ठा और महीयसी तेजस्विता देखकर बड़े विस्मित हुए। इसके बाद पांडव और कौरवों ने भीष्म के चरणों में अपने अपने सीस नवाए और उनके चारों ओर रक्षकों को नियुक्त कर वे अपने अपने शिविरों में लौट गए।

रात बीतने पर सबेरा होते ही कौरव, पांडव और अन्यान्य नरेशों ने भीष्म के निकट जाकर देखा कि वे पूर्ववत् शरशय्या पर पड़े हैं। उनके मुख-मंडल पर पूर्ववत् तेज

विराजमान है। नेत्र पहले जैसे दीप्तिमान हैं। उनके मुख-मंडल पर किसी प्रकार की आंतरिक अथवा शारीरिक पीड़ा के चिह्न नहीं दीख पड़ते। वे उस वीरशय्या पर चुपचाप ध्यानमग्न पड़े हैं। उनके इस प्रशांत भाव और योगतत्परता को देखकर समागत वीरों ने विस्मय-सहित उनको प्रणाम किया और वे हाथ जोड़े खड़े रहे। दुर्योधनादि कौरव भीष्म के लिये अनेक प्रकार के सुस्वादु भोजन के पदार्थ और जल लाए थे। भीष्म ने उन सबको देखकर दुर्योधनादि से कहा—

भीष्म—वत्सगण! मैं शरशय्याशायी होकर इस मृत्युलोक से बिदा हो रहा हूँ। इस समय मानवोचित सारे भोग मुझे नहीं चाहिएँ।

यह कहकर भीष्म ने अर्जुन की ओर देखा और उनसे कहा—

भीष्म—बेटा! मैं तुम्हारे शर-जाल से घिरा हुआ हूँ। मेरे सारे शरीर में दाह है और मेरा मुख सूख रहा है। इस अवस्था में तुम्हीं मेरे योग्य जल ला सकते हो। अतएव सुशीतल जल देकर मेरी प्यास बुझाओ।

महारथी अर्जुन ने "जो आज्ञा" कहकर भीष्म को प्रणाम किया और गांडीव धनुष पर बाण रख भीष्म की शय्या की दाहिनी ओर की भूमि को उस बाण से ऐसा वेधा कि तुरंत उस भूमि में छेद हो गया और उस छेद से सुस्वादु जलधारा निकलकर भीष्म के ठीक मुख में गिरने

लगी। अन्य वीर लोग अर्जुन का यह असामान्य कार्य देख विस्मित हुए। वे आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगे, उनका शरीर रोमांचित हो गया और हृदय काँपने लगा। लोकातीत क्षमता-संपन्न अर्जुन को वे देवराज इंद्र के बराबर समझने लगे।

भीष्म ने उस अमृतोपम शीतल जल-धारा से प्यास बुझाकर अर्जुन से कहा—

भीष्म—वत्स! तुमने लोकातीत सामर्थ्य दिखाकर मेरे अंतिम समय में मुझे ठंडा जल पिलाया है। तुम्हारे लिये यह कार्य विचित्र नहीं है। मैं तुम पर बहुत प्रसन्न हूँ। तुम्हारा कल्याण हो। मैंने दुर्योधन को बारंबार शांति-स्थापन का उपदेश दिया। धर्मवत्सल विदुर, आचार्य द्रोण, शास्त्रनिष्ठ वासुदेव, सुशील संजय ने भी इसे बहुत तरह से समझाया, किंतु दुर्बुद्धि दुर्योधन के मन पर इन सब की बातों का कुछ भी प्रभाव न पड़ा। उसने वयोवृद्ध और ज्ञानवृद्धों के उपदेश की उपेक्षाकर यह युद्ध ठाना है। अतः इस युद्ध में उसकी अवश्य ही हार होगी।

भीष्म की अंतिम बात सुन दुर्योधन को बड़ा दुःख हुआ। भीष्म ने उसे दुःखित देख उससे कहा—

भीष्म—बेटा! मेरी बात का बुरा न मानो। मैंने बहुत दिनों तक तुम्हारी हित-चिंतना की, बहुत दिनों तक तुम्हारा कार्य किया, बहुत दिनों तक तुम्हारी राजश्री को चिरस्था-

यिनी करने का यत्न किया। यही क्यों, मेरा सारा जीवन कुरुकुल की सेवा ही में बीता है। मैंने राजाधिराज का तनय होकर भी, मन मैला किए बिना ही, युवावस्था से लेकर अभी तक तुम्हारी सेवा की है। मैंने अपने यौवन काल के आरंभ में जो प्रतिज्ञा की थी, जिस काम को उठाया था, जिस तपस्या में मन लगाया था, आज मेरी वही प्रतिज्ञा पूरी हुई, वही काम पूरा हुआ और वही तपस्या सफल हुई। तुम मेरी बातों का बुरा मत मानना। तुम्हारे आदेशानुवर्त्ती होकर ही मैंने तुम्हारे कार्य में अपना शरीर तक लगा दिया है। महारथी पार्थ की क्षमता तुम अपनी आँखों से देख रहे हो। जगत् में कौन है जो मुझे ऐसा शीतल जल पिला सके। जिस वीरश्रेष्ठ में इतनी क्षमता है, उसे तुम युद्ध में कभी नहीं हरा सकते। बेटा! अब यह बूढ़ा मरना ही चाहता है। अब भी इस मरते हुए बूढ़े का कहना मान लो। क्रोध-रहित होकर पांडवों से मेल कर लो। युधिष्ठिर आधा राज्य पा प्रसन्न होकर खांडवप्रस्थ चला जायगा। तुम स्वजनद्रोही बनकर क्यों अपकीर्त्ति कमाते हो। धनंजय ने अभी तक जो कुछ किया है, उतने ही से वह युद्ध बंद कर देगा। पिता पुत्र से, भाई भाई से, मित्र मित्र से मिलकर परस्पर आनंद मनाओ। भीष्म की मृत्यु के साथ ही साथ शांति-रूपी सलिल से इस युद्ध रूपी आग को बुझाकर पृथिवी पर शांति स्थापित करो।

इतना कहकर भीष्म चुप हो गए। किंतु जिस प्रकार मुमूर्षु व्यक्ति को अच्छी से अच्छी ओषधि गुण नहीं करती, उसी प्रकार भीष्म के हितकर वाक्यों का दुर्योधन के मन पर कुछ भी प्रभाव न पड़ा।

अनंतर कर्ण ने आँखों में आँसू भर और भीष्म के चरणों पर गिरकर कहा—

कर्ण—आर्य! मैंने आपके वचनों का तिरस्कार और पांडवों के प्रति विद्वेष प्रकट कर आपका मन कई बार दुखाया है। उसके लिये मैं अब क्षमा प्रार्थना करता हूँ।

यह सुन भीष्म ने धीरे धीरे आँखें खोलीं और वे कर्ण से बड़े स्नेह से बोले—

भीष्म—वत्स! मैं तुमसे अप्रसन्न नहीं हूँ। तुम बिना कारण पांडवों की निंदा किया करते थे। इसी लिये कई बार मुझे तुम्हारा तिरस्कार करना पड़ा था। मैं तो केवल कुल-नाश के भय ही से तुमको सदुपदेश देता था। मैं तुम्हारे असामान्य शौर्य, लोक-विश्रुत दानशीलता और अपार ब्राह्मण-भक्ति की मन ही मन सदा सराहना ही किया करता हूँ। अब तुम पुरानी बीती हुई बातों पर राख डालकर पांडवों से मेल कर लो। जो होना था सो हो चुका।' अब भी कुल-क्षयकारी इस आपस के झगड़े को मिटा डालो। मेरे साथ ही अपनी इस शत्रुता को बिदा कर दो।

अंतिम समय में भी मेल-जोल के लिये भीष्म का आग्रह देखकर कर्ण ने गला भरकर कहा—

कर्ण—आर्य ! मैं दुर्योधन का ऐश्वर्य भोग रहा हूँ, अतः मैं मनसा वाचा कर्मणा वही काम करूँगा जो दुर्योधन को रुचिकर होगा। वासुदेव जिस प्रकार पांडवों के पक्ष में खड़े हुए हैं, वैसे ही मैं भी दुर्योधन का साथ देने की प्रतिज्ञा कर चुका हूँ। दुर्योधन जिस मार्ग पर चलेंगे, मुझको भी उसी पर चलना पड़ेगा। मैं अकृतज्ञ बनकर जीवित रहने की इच्छा नहीं करता। युद्ध ही क्षत्रियों का एक मात्र धर्म है। मैंने युद्ध करने का निश्चय कर लिया है। आप भी प्रसन्न होकर अनुमति दीजिए। मेरी अभिलाषा है कि आपकी आज्ञा लेकर मैं युद्ध करूँ। मैंने क्रोध के वशीभूत हो अथवा चपलता-वश आपके विरुद्ध जो आचरण किया है, उसके लिये मैं फिर आपसे क्षमा माँगता हूँ।

भीष्म—वत्स ! यदि यह निदारुण शत्रुता इतनी बढ़ गई है कि वह मिट ही नहीं सकती और यदि तुम दुर्योधन के कहने के अनुसार ही चलना चाहते हो तो मैं तुम्हें अनुमति देता हूँ कि तुम स्वर्गप्राप्ति की कामना से युद्ध करो। धर्मयुद्ध को छोड़ क्षत्रियों के लिये और कोई प्रिय वस्तु नहीं है। तुम न्यायानुसार दुर्योधन का साथ देकर, क्षत्रियोचित लोक को प्राप्त हो। वत्स ! मैं सच कहता हूँ। मैंने सच्चे मन से बहुत दिनों तक शांति-स्थापन का प्रयत्न किया। अंत तक

मैंने यथाशक्ति दुर्योधन को समझाया। किंतु मैं किसी प्रकार भी कृतकार्य न हो पाया।

यह कहकर भीष्म ने आँखें बंद कर लीं और वे ध्यान-मग्न हो गए। वीरश्रेष्ठ, पुंरुषसिंह, पवित्र वीरशय्या पर योगाभ्यास-पूर्वक, अनंत पद का ध्यान करते करते, दिवाकर के उत्तरायण होने पर, अनंत निद्रा में मग्न हो गए।

इस प्रकार भीष्म ने अपनी मानवी लीला संवरण की। उनके समान पितृभक्त, सत्यप्रतिज्ञ और धर्मनिष्ठ महापुरुष इस भूमंडल पर कहीं भी नहीं हुआ। जान पड़ता है वे इस मर्त्य-लोक में असामान्य पितृभक्ति, अलौकिक सत्यपरायणता और अपूर्व धर्मशीलता दिखाने के लिये ही अवतीर्ण हुए थे। उनकी लोकातीत कार्यप्रणाली सर्वदा और सर्वत्र दूसरों के लिये आदर्श और शिक्षाप्रद है। वे पिता को संतुष्ट और प्रसन्न करने के लिये गृहस्थाश्रम से विमुख हुए, उन्होंने सत्य प्रतिज्ञा की मर्यादा रक्खी और असाधारण वीर होकर भी दूसरे के अनुगत बन-कर उन्होंने वैराग्य, न्यायनिष्ठा और चित्तसंयम को पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया। एक ही व्यक्ति में ऐसे परस्पर विरोधी गुणों का समावेश न कभी किसी ने देखा और न कभी किसी ने सुना। उनके समान राजाधिराज का तनय होकर उनके जैसा सब बातों में असामान्य क्षमताशाली होकर और उन जैसा सर्वगुण-संपन्न होकर कदाचित् ही कोई पर-सेवा में अपना सारा जीवन लगा सकें। वीर पुरुष रणक्षेत्र में अपनी विजयिनी

शक्ति का विकाश करके, वीरेंद्रों द्वारा प्रशंसा पा सकते हैं, श्रेष्ठ विद्वान् किसी नए तत्त्व का आविष्कार कर सहृदय लोगों को प्रसन्न कर सकते हैं, किंतु भक्तिपरायणता, कर्त्तव्यनिष्ठा और सर्वोपरि सर्वार्थत्याग की महिमा, इस चिर-कौमार-व्रत-धारी महापुरुष के समान कोई भी नहीं दिखा सकता। कई हजार वर्ष बीत चुके, सहस्रों राज्य यहाँ प्रतिष्ठित हुए और नष्ट हुए, लाखों मनुष्य उत्पन्न हुए और मरे, किंतु आज तक इस महापुरुष की कीर्त्ति ज्यों की त्यों अचल बनी है। जान पड़ता है, अपूर्व आत्मसंयम, अलौकिक पितृभक्ति, असाधारण वीरत्व और असाधारण परहित-व्रत में पृथिवी का कोई भी व्यक्ति इस महामहिमान्वित ब्रह्मचारी की बराबरी न तो कभी कर सका और न कभी कर सकेगा। जहाँ तक जाना गया है भीष्म जैसा पुरुषसिंह आज तक किसी भी देश में नहीं जन्मा।

नवाँ अध्याय

भीष्म पितामह के उपदेश

भीष्म का चरित जो हमने पिछले पृष्ठों में लिखा है, उससे उनके स्वार्थत्याग, उनके अतुलित पराक्रम और उनकी कर्त्तव्य-निष्ठा का परिचय मिलता है। अब हम उनके अगाध शास्त्रीय ज्ञान का निदर्शन करना भी आवश्यक समझ महाभारत के शांति-पर्व से उनके कतिपय उपदेशों का आगे के पृष्ठों में संग्रह करते हैं।

हम यह कह आए हैं कि घायल होकर भीष्म ने उत्तरायण सूर्य होने पर देहत्याग का संकल्प किया था और तब तक वे शरशय्या पर ही पड़े थे। जब युद्ध हो चुका और मरे हुओं का प्रेत कर्म महाराज युधिष्ठिर कर चुके, तब वे व्यासदेव के कहने से भीष्मजी के पास गए। उस समय युधिष्ठिर तो प्रश्न करते थे और शरशय्या पर पड़े पड़े सर्वशास्त्रविशारद भीष्म उनके प्रश्नों का उत्तर देते थे। नीचे जो उनके उपदेश दिए गए हैं, वे उसी समय के युधिष्ठिर और भीष्म के प्रश्नोत्तरों का निष्कर्ष हैं।

सुख और दुःखदायी कर्माकर्म

भीष्म ने कहा—

जो वेद के जाननेवाले हैं, उन्होंने इंद्रियों को वश में करना ही मनुष्य के लिये बड़ा भारी कर्म बतलाया है। ब्राह्मण,

क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी के लिये और विशेषकर ब्राह्मण के लिये इंद्रियों को दमन करना परम हितकर है। जो असंयमी हैं, जिनके वश में उनकी इंद्रियाँ नहीं हैं, वे चाहे कोई काम करें, उनका प्रयत्न कभी सफल नहीं होता।

तपस्या और सत्य बोलना ही क्रिया है। यह क्रिया दम गुण में प्रतिष्ठित है। दम को ही पंडित पवित्र कहते हैं। पाप-रहित, निर्भय, दांत पुरुष महत् सुख भोगते हैं।

जो पुरुष दांत अर्थात् जितेंद्रिय है, वही परम सुख से सोता है और उसके सब काम अनायास ही सिद्ध हो जाते हैं।

जो जितेंद्रिय हैं वे तेजस्वी होते हैं, और काम आदि शत्रुओं को भली भाँति पहचानते और उनसे सदा अपनी रक्षा किया करते हैं।

किंतु जो जितेंद्रिय नहीं हैं, उनसे सर्वसाधारण जन व्याघ्र, सिंह आदि मनुष्य-भक्षी जीवों की तरह सदा भयभीत रहते हैं।

ऐसे लोगों के शासन के लिये ही विधाता ने राजा की सृष्टि की है।

सब आश्रमों के लिये दम गुण ही श्रेष्ठ है, सब आश्रमों में धर्मोपार्जन से जो फल होता है, वह अकेले इंद्रिय-निग्रह से प्राप्त हो सकता है।

दम किसे कहते हैं ?

अदीनता, अभिनिवेश, संतोष, अक्रोध, सरलता, सदा अलौकिक अर्थ कहना, गुरुपूजा, अनसूया, सब भूतों में दया

और मिथ्या वचन तथा स्तुति और निंदा का परित्याग ही दम गुण का लक्षण कहलाता है।

जो मोक्षार्थी होकर सुख दुःखादि के अनुभव में स्पृहा नहीं करते, जो किसी के साथ वैर नहीं करते, जो शठता-रहित होकर सबको आदर की दृष्टि से देखते हैं, निंदा और स्तुति जिनके मन में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं करती, वे सच्चरित्र, सदाचार-युक्त, प्रसन्नचित्त, बुद्धिमान् मनुष्य इस लोक में पूज्य समझे जाकर परलोक में स्वर्ग-सुख भोगते हैं। ऐसे लोगों को सदा अच्छे अच्छे पदार्थ अनायास मिलते हैं और वे सदा सुखी रहते हैं। जो सब जीवधारियों का भला चाहते हैं, उनको कभी किसी प्रकार का दुःख नहीं होता।

जिसे न तो किसी से डर है और न जिससे कोई प्राणी डरता है, वही बुद्धिमान् दांत पुरुष सब प्राणियों से आदर पाता है।

जो शास्त्र-ज्ञान से युक्त होकर भी कर्मानुष्ठान करता है, महत् पुरुषों के आचरित पथ पर चलता है और इंद्रियों को अपने वश में रखता है, वही महत् पुण्य का भागी होता है।

अनसूया, क्षमा, शांति, संतोष, प्रियवादिता, सत्य, दान और क्षमाशीलता दुरात्माओं के अधिकार की वस्तु नहीं है।

जो दुरात्मा हैं वे क्रोधी, लोभी, द्रोही और सदा अपनी बड़ाई किया करते हैं।

ब्रह्मचारियों को उचित है कि वे काम और क्रोध के स्वयं वश में न होकर, उन्हें अपने वश में करें।

विपद्ग्रस्त पुरुष के लिये कल्याण क्या है?

जो मनुष्य स्त्री, पुत्र, सुख और वित्तहीन हो विपद्ग्रस्त हैं, उनके लिये धैर्य ही कल्याणकारी है।

जो धैर्य को धारण करता है, वह कदापि किसी दशा में भी दुःखी नहीं होता।

शोकशून्य सुख शरीर की आरोग्यता का प्रधान कारण है। शरीर के आरोग्य रहने से मनुष्य सब कुछ कर सकता है।

जो बुद्धिमान् पुरुष सात्त्विकी वृत्ति से समय व्यतीत करते हैं वे ऐश्वर्यशाली होते हैं और उनके सब मनोरथ सफल होते हैं।

कैसे चरित्रवाला पुरुष उत्तम ब्रह्मधाम पाता है?

भीष्म बोले—

जो मोक्षधर्म में सदा रत रहते हैं, अल्पाहारी और जितेंद्रिय हैं, वे ही प्रकृतिश्रेष्ठ नित्य ब्रह्मधाम लाभ किया करते हैं। भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा—"हे भारत! पुराने लोग इस प्रसंग में असितदेवल और जैगीषव्य का इतिहास कहा करते हैं। उसे मैं तुमसे कहता हूँ। सुनो।

असितदेवल सर्वधर्मवेत्ता, महाप्राज्ञ, क्रोध और हर्ष से रहित जैगीषव्य से बोले—

देवल—हे महर्षि! यदि कोई तुम्हारी वंदना करे तो

तुम प्रसन्न नहीं होते और यदि कोई तुम्हारी निंदा करे तो तुम क्रुद्ध भी नहीं होते हो। ऐसी बुद्धि आपकी क्योंकर हुई ? आपकी इस मति का परम अवलंबन क्या है ?

देवल के इन प्रश्नों को सुन महातपस्वी जैगीषव्य ने प्रचुर अर्थ और पद संयुक्त पवित्र तथा महत् वचनों में उत्तर देते हुए कहा—हे ऋषिसत्तम ! पुण्यकर्म करनेवालों का जो परम अवलंब है, मैं उस अत्यंत महती शांति के विषय में तुमसे कहता हूँ।

जो मनीषी हैं, वे स्तुति से न तो प्रसन्न होते और न निंदा से अप्रसन्न ही होते हैं। जो लोग उनके निंदक अथवा प्रशंसक होते हैं, वे ऐसों के आचार व्यवहारों को छिपाकर रखते हैं। वे पूछने पर भी अहितकर विषय के संबंध में हितकारी पुरुष से कुछ नहीं कहते और जो उनके ऊपर आघात करते हैं, उनसे वे बदला लेने की भी इच्छा नहीं रखते।

ऐसे लोग अप्राप्त वस्तुओं के लिये दुःख न करके समय पर प्राप्त हुई वस्तु ही से काम चला लिया करते हैं। बीती हुई बातों के लिये न तो वे दुःखी होते और न उनका स्मरण करते हैं !

हे देवल ! व्रत करनेवाले, शक्तिशाली मनीषी, इच्छानुसार आवश्यक वस्तुओं की प्राप्ति में सम्मान पाने पर भी अपने आपको सुख के अधीन नहीं कर दिया करते।

जिन्होंने क्रोध को जीत लिया है अथवा जिनका ज्ञान

परिपक्व हो गया है, वे जितेंद्रिय महाप्राज्ञ पुरुष मन वचन और कर्म से किसी का अनिष्ट नहीं करते।

ऐसे लोग ईर्ष्या-रहित होते हैं और कभी किसी का मन नहीं दुखाते।

धीर लोग दूसरों की बढ़ती देख कभी नहीं जलते। जो लोग दूसरों की निंदा अथवा प्रशंसा नहीं करते वे अपनी निंदा से न तो चिढ़ते हैं और न अपनी प्रशंसा सुन प्रसन्न ही होते हैं।

जो लोग सब प्रकार से शांत हैं, और प्राणीमात्र की भलाई में लगे हुए हैं, वे क्रोध अथवा हर्ष को अपने पास नहीं फटकने देते।

जिनका कोई बांधव नहीं है और जो किसी के बंधु नहीं हैं, उनका न तो कोई शत्रु है और न वे किसी के शत्रु हैं। ऐसे मनुष्यों के मन में किसी प्रकार की गाँठ नहीं पड़ती और वे सुखपूर्वक विचरते हैं।

जो मनुष्य ऐसे व्यवहार करते हैं, वे सदा सुखपूर्वक जीवन के दिन बिताया करते हैं।

हे द्विजोत्तम! जो धर्मानुरागी हैं, वे ही सुखी हैं और जो धर्ममार्ग से च्युत हैं, वे ही दुखी हैं, और उन्हीं का मन सदा उद्विग्न रहता है।

मैंने उसी धर्म का आसरा तका है, इसलिये मैं किसी की असूया नहीं करता। मेरी भले ही कोई निंदा करे अथवा

प्रशंसा करे, मैं न तो निंदक पर अप्रसन्न होता और न प्रशंसा करनेवाले पर प्रसन्न ही होता हूँ।

धर्म ऐसी अमूल्य वस्तु है कि जो इसे ग्रहण करता है, उसे किसी वस्तु का अभाव नहीं रहता।

निंदा से न तो मेरी कुछ हानि हो सकती है और न प्रशंसा से मुझे कुछ लाभ ही हो सकता है।

जो तत्त्ववेत्ता हैं, वे अपमान को अमृत समझकर तृप्त होते हैं और सम्मान को विष समझकर उद्विग्न होते हैं।

अवज्ञात लोग सब झंझटों से छुटकारा पाकर इस लोक और परलोक में सुख से सोते हैं और जो दूसरों का अपमान करता है वह स्वयं नष्ट होता है।

जो बुद्धिमान् लोग परमगति की इच्छा करें उन्हें उचित है कि वे इस व्रत को धारण करें। इससे अनायास ही उनकी बढ़ती होती है।

जितेंद्रिय पुरुष परमश्रेष्ठ नित्य ब्रह्मधाम को पाते हैं और जो लोग परमपद के अधिकारी होते हैं, उनका अनुसरण देवता, गंधर्व, पिशाच अथवा राक्षस कभी नहीं कर सकते।

चारों आश्रमों के कर्त्तव्य कर्म

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षुक, ये चार आश्रम हैं। चारों आश्रमवाले अपने अपने आश्रमों के अनुसार कर्म करें तो उनकी मुक्ति होती है।

अथवा जो लोग काम-द्वेष से रहित होकर इन चारों आश्रमों का विधिपूर्वक अकेले ही अनुष्ठान करते हैं, वे ब्रह्मवेत्ता होकर ज्ञानी कहलाते हैं।

ब्रह्मप्राप्ति के लिये ये चारों आश्रम चार डंडे की सीढ़ी हैं। इस सीढ़ी पर चढ़ने से लोग ब्रह्मलोक में पहुँचते हैं।

ब्रह्मचारी को उचित है कि वह असूया-रहित और धर्मार्थवित् होकर परमायु के चौथे भाग के पहले भाग में गुरु अथवा गुरुपुत्र के समीप रहे।

गुरु के गृह में रहकर ब्रह्मचारी अच्छी चारपाई पर न सोवे और गुरु के पहले सोकर उठे तथा घर के जो काम उसको गुरु ने बता दिए हैं, उन्हें करे।

जब काम-काज से छुट्टी पावे, तब गुरु के पास आकर खड़ा हो जाय।

जब गुरु आज्ञा दें तब गुरु से अपना पाठ मन लगाकर पढ़े।

ब्रह्मचारी को सरल और अपवाद-रहित होना चाहिए। गुरु जब बुलावें तब वह उनके पास तुरंत चला जाय।

ब्रह्मचारी को उचित है कि सदा पवित्र, निपुण और प्रिय वचन बोले। ब्रह्मचारी जितेंद्रिय हो और सदा सावधान रहे।

जब तक गुरु भोजन न कर चुकें तब तक ब्रह्मचारी स्वयं भोजन न करे। गुरु के जल पिए बिना स्वयं भी जल न पिए।

बिना गुरु के बैठे स्वयं भी न बैठे। जब तक गुरु सो न जायँ, तब तक स्वयं भी न सोवे।

ब्रह्मचारी दोनों हाथों को नीचे ऊपर कर गुरु के चरणों को स्पर्श करे। अर्थात् दहिने हाथ से दहिना पाँव और बाएँ हाथ से बायाँ पाँव छुए।

ब्रह्मचारी गुरु को प्रणाम करके कहे—"हे भगवन्! शिष्य को शिक्षा-दान कीजिए; मैं यह करूँगा, मैंने इसे किया है। हे भगवन्! और जो आप आज्ञा देंगे, वह भी करूँगा।" इस प्रकार सब कामों को करने के पूर्व गुरु की आज्ञा ले ले। जब कार्य कर चुके तब गुरु से जाकर निवेदन करे।

ब्रह्मचारी जिन सब गंध-रसों को ब्रह्मचर्याश्रम में सेवन नहीं करते, ब्रह्मचर्यव्रत पूरा होने पर, उन सबका उपभोग करे।

ब्रह्मचारी का कर्त्तव्य है कि वह सदा गुरु की सेवा में तत्पर रहे।

ब्रह्मचारी वेदाध्ययन, व्रत और उपवास से अपनी आयु का प्रथम भाग पूरा करे और गुरु को दक्षिणा देकर घर जाने की विधिपूर्वक आज्ञा ले। अनंतर घर जाकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे।

फिर धर्म से प्राप्त हुई भार्य्या के साथ कर्मों को करता हुआ परमायु का दूसरा भाग बितावे।

गृहस्थ की आजीविका के लिये शास्त्र में चार प्रकार की वृत्तियाँ हैं। यथा—

(१) कुशूल धान्य—अर्थात् तुच्छ धान्य द्वारा जीविका निर्वाह करना।

(२) कुंभ धान्य—अर्थात् घड़ा भर अन्न बटोर वृत्ति स्थापित करना।

(३) अश्वस्तन—अर्थात् दूसरे दिन के लिये अन्न संचित न करना।

(४) कापोती—अर्थात् अच्छी वृत्ति अवलंबन कर जीविका निर्वाह करना।

गृहस्थ को यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, दान, प्रतिग्रह ये छः कर्म अपने वर्णानुसार करने चाहिएँ।

गृहस्थ अपने लिये अन्न पाक न करावे और हत्या न करे।

गृहस्थ को दिन में और रात्रि के आरंभ (शाम को) एवं काल (सबेरे) में सोने का निषेध है।

दिन और रात्रि में भोजन का जो समय बँधा हो, उसके बीच में भोजन न करे।

ऋतुकाल को छोड़कर गृहस्थ भार्य्या से संग न करे।

घर में आया हुआ व्यक्ति अनादृत और अभुक्त न रहने पावे, इस विषय में गृहस्थ सदा सावधान रहे।

गृहस्थ को उचित है कि वह अतिथि का यथाविधि सत्कार करे।

दंभ के लिये नख, लोम धारण करनेवाले, स्वधर्म-ज्ञापक, अविधि से अग्निहोत्र त्यागनेवाले और बड़े लोगों को चिढ़ाने-

वाले चांडाल आदि जीवों का भी गार्हस्थ्य धर्म में संविभाग है। ब्रह्मचारी, संन्यासी आदि को, जिन्हें स्वयं पाक करने का निषेध है, गृहमेधी मनुष्य अन्न दान दे।

गृहस्थ को उचित है कि यज्ञ से बचे हुए हवि से क्षुधा निवृत्त करे।

गृही मनुष्य को उचित है कि वह नीचे लिखे लोगों से कभी झगड़ा-टंटा न करे। यथा—स्वस्त्री में रत, दांत, ऋत्विक्, पुरोहित, अतिथि, आश्रित लोग, वृद्ध, बालक, आतुर, आचार्य, मामा, वैद्य, स्वजन, संबंधी, बांधव, माता, पिता, बहिन अथवा सगोत्रा स्त्रियाँ, भ्राता, भार्य्या, पुत्र, कन्या और सेवक।

इन सब लोगों के साथ जो बटवारे के लिये नहीं झगड़ते वे सब पापों से मुक्त हो जाते हैं।

जो गृहस्थ यथाविधि मन लगाकर आचार्य की पूजा करते हैं वे मरने पर ब्रह्मलोक में जाते हैं।

जो मन लगाकर यथाविधि पिता का पूजन करते हैं, वे प्रजापति लोक में मरने के उपरांत जाते हैं।

जो अतिथियों का यथाविधि सत्कार करता है वह मरने पर इंद्रलोक में जाता है।

जो ऋत्विजों का पूजन करते हैं वे देवलोक में और जो स्त्रियों का सम्मान करते हैं, वे मरने के उपरांत अप्सरा-लोक में जाकर वास करते हैं।

जो स्वजनों का आदर करते हैं, उन्हें वैश्वदेव लोक मिलता है। संबंधी बांधवों का सत्कार करने से चारों ओर यश फैलता है।

माता और मामा की सेवा करनेवाले की भूलोक में कीर्त्ति हुआ करती है।

वृद्ध, बालक, आतुर और कृश का आदर करने से आकाश में गति प्राप्त होती है।

बड़ा भाई पिता के समान होता है। भार्य्या और पुत्र निज शरीर के समान हैं। दास और दासियों को अपने शरीर की परछाँही के समान समझे और कन्या सदा कृपा की पात्री है। इसलिये यदि इन सबके द्वारा कुछ कष्ट भी मिले तो गृह-धर्म-परायण, विद्वान्, धर्मशील पुरुष को चाहिए कि क्रोध-रहित होकर सदा उसे सहे।

गृहस्थों को उचित है कि धन की प्राप्ति के लिये अग्नि-होत्रादि कर्म न करें।

जो लोग सब आश्रमों के कर्म यथाविधि करते हैं, वे यथोक्त नियमों का पालन करें। ऐसे पूज्य पुरुष जिस देश में वास करते हैं, उस देश की सदा बढ़ती होती है। ऐसे नियमशाली पुरुष दस पिछली और दस अगली पीढ़ियों को तारते हैं।

जो लोग गृहस्थ होकर और व्यथा-रहित होकर ऊपर के नियमों का पालन करते हैं, वे मरने पर उन लोकों में जाकर वास करते हैं, जिनमें मान्धाता जैसे चक्रवर्त्ती जाकर रहे थे।

गार्हस्थ्य आश्रम से भी बढ़कर तीसरा वानप्रस्थ आश्रम है। हड्डी, चर्म, मांस आदि से बने हुए शरीर को तप द्वारा सुखानेवाले वनचारी लोगों को इस आश्रम में शरीर त्यागने से जो फल होता है, अब उसे कहते हैं।

भीष्म बोले—हे धर्मराज ! पंडितों ने जिस प्रकार गृहस्थ-वृत्ति का विधान किया है, उसे मैं तुम्हें सुना चुका, अब वानप्रस्थ आश्रमियों के कर्त्तव्य कर्मादि सुनो।

गृहमेधी मनुष्य परम श्रेष्ठ कपोती वृत्ति को क्रम से छोड़कर, अपनी पत्नी के सहित खिन्न होकर वानप्रस्थ आश्रम को ग्रहण करे। हे तात ! अपनी इच्छा से प्रवृत्त, पुण्य देश में निवास करनेवाले सर्व-लोकाश्रम-स्वरूप वानप्रस्थ आश्रमी का वृत्तांत सुनने से तुम्हारा कल्याण होगा।

गृहस्थ जब देखे कि उसका शरीर ढलता जाता है और जब उसके पुत्र के संतान उत्पन्न हो जाय, तब वह वनवासी हो।

वह अपनी परमायु का तीसरा हिस्सा वानप्रस्थाश्रम में व्यतीत करे।

वह देवताओं का पूजन करके तीन प्रकार के अग्नि की परिचर्य्या में लगा रहे।

वह सदा नियताहारी और अप्रमत्त होकर दिन के छठे भाग में भोजन करे।

इस आश्रम में भी अतिथि-सत्कार अथवा यज्ञक्रिया के अर्थ कोई कोई तो नित्य जो पाते हैं उसे लगा देते हैं और

कोई मासिक, कोई वार्षिक और कोई द्वादशवार्षिक द्रव्य आदि संचित करते हैं।

कोई कोई वानप्रस्थाश्रमी प्रावृट् काल में अभ्राकाश-देश में रहते हैं, हेमंत काल में जल में रहते हैं, ग्रीष्म काल में पंच-तपा होते हैं और सदा परिमित भोजन करते हैं।

कोई कोई भूमि पर उल्टे लटकते हैं और कोई किसी स्थान विशेष का अवलंबन कर स्वल्प आहार से जीविका निर्वाह करते हैं।

इस आश्रम में कोई कोई दाँतों से ऊखल का काम लेते हैं और कोई खल से।

कोई कोई शुक्लपक्ष में एक ही बार उबालकर यवागू पीते हैं और कोई कोई कृष्णपक्ष में।

कोई फलाहार, कोई मूलाहार और कोई केवल फूल ही खाकर रहते हैं।

वैखानस, बालखिल्य, सैकत और कृच्छ्र चांद्रायण आदि परत्व निबंधन कर्मों द्वारा निरानंद, धर्म में रत और जितेंद्रिय ब्राह्मण तथा प्रत्यक्षधर्मा महर्षि वानप्रस्थाश्रमी होकर स्वर्ग में गए।

नक्षत्र, ग्रह, तारागण से भिन्न जो सब निर्मल ज्योति-समूह आकाश में दीख पड़ता है वही पुण्यात्माओं का अवलंब है।

मनुष्य जरा द्वारा परिवृत और व्याधि से परिपीड़ित होकर अंत में परमायु के चौथे भाग में वानप्रस्थाश्रम को छोड़ भिक्षुक अथवा संन्यासी होवे।

संन्यासी अपनी आत्मा में तीनों अग्नि स्थापित करे और भोजन के समय अन्न की निंदा न करे। अनंतर "प्राणाय् स्वाहा, स्वाहा" आदि यजुर्वेदीय मंत्रों से पंच प्राणों को पाँच ग्रास वा छः ग्रास अन्न प्रदान करे।

जो ब्राह्मण सब प्राणियों को अभय देकर संन्यास धर्म अवलंबन करता है वह मरने पर ज्योतिर्मय लोकों में जाकर अनंत सुख भोगता है।

सुशील, सद्वृत्तिवाले, पाप-रहित, आत्मवित् पुरुष ऐहिक और पारलौकिक किसी भी कर्म के करने की अभिलाषा नहीं करते। वे क्रोध, मोह, लड़ाई-झगड़ों को छोड़ उदासीन की भाँति रहते हैं।

वे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अभिधेय, यम, शौच, संतोष, तपस्या, वेदाध्ययन और ईश्वर-प्रणिधान के नियमों में निबद्ध रहें।

वे स्वशास्त्रीय सूत्र और आहुति मंत्रों में विक्रम प्रकाश न करें।

आत्मवित् पुरुषों की मुक्ति उनके इच्छानुसार हुआ करती है।

जो लोग धर्मपरायण और जितेंद्रिय हैं उनको कोई संशय नहीं रहता।

संन्यासी को उचित है कि वह बाह्य वस्तुओं की ओर ध्यान न दे।

वह कभी किसी की निंदा न करे, न सुने, विशेषकर ब्रह्म की निंदा सुनना वा किसी प्रकार से कहना उसे उचित नहीं।

जिससे ब्राह्मणों की भलाई हो, वह सदा ऐसे वचन बोले।

यदि कोई अपनी निंदा करता हो तो चुप हो जाय। क्योंकि मौनावलंबन ही भवलोक की चिकित्सा है।

जिनके अकेले निवास करने से सूना स्थान भी भरा-पूरा जान पड़े और जिनके न रहने से भरा-पूरा स्थान सूना जान पड़े, देवता उन्हीं को ब्रह्मनिष्ठ समझते हैं।

संन्यासी न तो मरने की कामना करे और न जीने की। उसे समय की प्रतीक्षा उस प्रकार करनी चाहिए, जैसे सेवक स्वामी की किया करता है।

जो लोग वचन और मन को दोष-रहित करके स्वयं सब पापों से मुक्त हो गए हैं, उन निरमित्र मनुष्यों को भय ही किसका है?

जो सब प्राणियों से निर्भय हैं और जिनसे सब प्राणी निर्भय हैं, उन मोहमुक्त पुरुषों को किसी प्रकार के भय की संभावना नहीं हो सकती।

अहिंसा में सब धर्म आ जाते हैं। जो लोग हिंसा नहीं करते, वे सदा अमृत उपभोग किया करते हैं।

जो लोग अहिंसक, समदर्शी, सत्य बोलनेवाले, धृतिमान्, संयतेंद्रिय और सब भूतों के शरण्य हैं, वे सर्वोत्तम गति पाते हैं।

जो लोग आत्मानुभवी होने के कारण तृप्त, निर्भय और आशा-रहित हैं, वे अवश्यंभावी मृत्यु के डर से नहीं डरते किंतु मृत्यु ही उनसे डरा करती है।

स्थूल, सूक्ष्म शरीर में जिनको अहं बुद्धि नहीं है उन्हें देवता ब्रह्मिष्ठ कहा करते हैं।

जिन्हें न किसी की आशा है और न भरोसा है, जो न तो किसी को नमस्कार करते हैं और न किसी की स्तुति करते हैं और जो सब प्रकार की वासनाओं से रहित हैं उन्हीं को देवता ब्रह्मिष्ठ समझते हैं।

सुख में रत होना, जैसे प्राणिमात्र की प्रवृत्ति है वैसे ही दुःख से डरना भी उनकी प्रकृति है। इसलिये श्रद्धावान् पुरुष ऐसे कार्यों को न करे जिनसे किसी को भय उत्पन्न हो।

सब जीवों को अभय दान देना ही सब दानों में उत्तम है। यह दान सब प्रकार के दानों में समधिक भाव से वर्त्तमान रहता है।

जो पहले हिंसामय धर्म परित्याग करता है उसकी मोक्ष होती है।

धर्म के लक्षण

युधिष्ठिर—हे पितामह ! आर्य, जैन, म्लेच्छ आदि शास्त्रीय धर्म को अनेक प्रकार से वर्णित देख उसमें संदेह किया करते हैं, इससे कृपा कर यह तो बतलाइए कि धर्म का यथार्थ लक्षण और स्वरूप क्या है ? धर्म की उत्पत्ति कैसे हुई और यह

केवल इसी लोक के लिये है अथवा परलोक के लिये भी वा दोनों लोकों के लिये ?

युधिष्ठिर के इन प्रश्नों के उत्तर में भीष्म ने कहा—

वेद, स्मृति और सदाचार, ये तीन प्रकार के धर्म के लक्षण हैं। और प्रयोजन को भी पंडित लोग चौथा लक्षण मानते हैं।

महर्षिगण धर्म के निमित्त हितकर कर्मों का न्यूनाधिक भाव से निश्चय करते हैं।

गार्हस्थ्य आश्रम में भी मुक्ति होती है। आलसी लोग संन्यास ग्रहण करते हैं। त्याग करने ही से मुक्ति हुआ करती है।

विषय-लंपट मनुष्य गार्हस्थ्याश्रम की अभिलाषा किया करते हैं। इसी प्रकार विषय-भेद से लोकयात्रा निबाहने के लिये धर्म के नियम निर्णीत हुए हैं।

इस लोक और परलोक, दोनों लोकों में धर्म का फल दीख पड़ता है।

पापी मनुष्य अच्छे प्रकार धर्म-प्राप्ति में समर्थ होकर पाप-मुक्त होता है।

कोई कोई ऐसा भी कहते हैं कि पाप करनेवाले पुरुष आपत्काल में भी पापों से नहीं छूटते।

धर्मवित् पुरुष पापवादी होने पर भी अपापवादी हुआ करते हैं। क्योंकि आचार ही धर्म की निष्ठा है। अतः तुम उस आचार का अवलंबन करने ही से धर्म को जान सकोगे।

धर्म-समाविष्ट तस्कर जब पराए धन को चुराता है अथवा अराजक समय में पराए वित्त को अपना लेता है, उस समय निस्संदेह वह परम सुखी होता है। परंतु जब तस्कर के धन को दूसरे लोग हर लेते हैं, तब वह राजद्वार में जाता है और जो लोग निज धन से संतुष्ट हैं उनकी वह स्पृहा किया करता है। वह निर्भय, पवित्र और अशंकित होकर राजद्वार में प्रवेश करता है। उसे अपने भीतर कोई दुश्चरित्रता नहीं दीख पड़ती।

सत्य बोलना ही उत्तम है। सत्य से बढ़कर कुछ भी नहीं है। सत्य के सहारे ही धर्म्म टिका है। समस्त जगत् सत्य ही से प्रतिष्ठित है।

रौद्र कर्म करनेवाले पापाचारी मनुष्य भी पृथक् पृथक् शपथ करके सत्य के आश्रय से अद्रोह और अविसंवाद में स्थित रहते हैं।

वे लोग जब परस्पर की कोई प्रतिज्ञा भंग करते हैं, तब निश्चय ही विनष्ट होते हैं।

परधन हरना उचित नहीं—यह सनातन धर्म है।

बलवान् पुरुष उक्त धर्म को निर्बलों के द्वारा प्रवर्त्तित समझते हैं।

जिस समय बलवानों को दैव की प्रतिकूलता से निर्बलता प्राप्त होती है, तब उन लोगों की भी धर्म में रुचि हुआ करती है।

अत्यंत बलवान् पुरुष भी सुखी नहीं होते, अतः कुटिल कार्यों में बुद्धि लगाना ठीक नहीं।

सत्यवादी पुरुष असाधु, तस्कर और राजा से भयभीत नहीं होता। वह किसी पुरुष का अनिष्ट नहीं करता। इसी से वह सदा निर्भय हो पवित्र मन से रहता है।

गाँव में आई हुई हिरनी की तरह चोर सबसे शंकित रहता है। जैसा वह स्वयं है, वैसा ही वह सब को चोर समझता है।

जो स्वयं शठ होता है वह दूसरों को भी शठ समझ लेता है, किंतु शुद्ध हृदय तथा सदाशयवाले पुरुष सदा आनंदित और निर्भय होकर सर्वत्र विचरते हैं।

सब भूतों के हित में रत महर्षियों ने दान देने ही को धर्म कहा है।

धनवान् पुरुष इस धर्म की प्रवृत्ति निर्धनों से समझता है। दैव-वशात् यदि वह कभी निर्धन हो जाता है, तब उसे भी उसी धर्म में रुचि उत्पन्न होती है। अतः अति धनी भी कभी सुखी नहीं होते।

जब मनुष्य दूसरों के किए हुए कर्म को अपना किया हुआ कर्म बतलाने की अभिलाषा नहीं करता, तब वह जिस कर्म को अपना प्रिय समझता है, दूसरे के लिये उसे वह कभी नहीं करता।

जो पुरुष पराई स्त्री का उपपति है, वह स्वयं दोषी है। इसलिये वह दूसरों से क्या कह सकता है? वह यदि दूसरों

को ऐसे असत्कार्य में प्रवृत्त देखे, तो वह उनसे कुछ भी नहीं कह सकता।

जो पुरुष स्वयं जीवित रहने की इच्छा करता है, वह क्योंकर दूसरों का वध कर सकता है। अतः जैसी अपने लिये अभिलाषा करे, मनुष्य को उचित है, वैसी ही दूसरों के लिये करे।

दीन दरिद्रों के पालने पोसने के लिये ही धन की वृद्धि करनी चाहिए। नहीं तो केवल धन की वृद्धि करना अत्यंत निकृष्ट काम है।

जिस सन्मार्ग में रहने से देवता सम्मुखवर्त्ती हुआ करते हैं, उस मार्ग में मनुष्य सदा विचरता रहे। अर्थात् सदा दम, दान और दयायुक्त हो अथवा लाभ होने पर यज्ञ, दानादि उत्तम कार्यों को श्रद्धापूर्वक करे।

भीष्म ने कहा—हे युधिष्ठिर! प्रिय वाणी से जो मिले, मनीषी लोग उसी को धर्मपरायण कहा करते हैं।

जो अपने को अच्छा लगे, दूसरों के लिये भी उसी को अच्छा समझे और जो अपने को अप्रिय है, उसे दूसरों के लिये भी अप्रिय समझे और कभी वैसा बर्ताव दूसरों के साथ न करे। यही धर्म का लक्षण है।

यह सुन युधिष्ठिर बोले—हे पितामह! वेद-विहित साधु-समुद्दिष्ट धर्म का लक्षण अत्यंत सूक्ष्म है। मैं अपनी प्रतिभा के अनुसार ही आपसे प्रश्न कर रहा हूँ। मेरे बहुत

से प्रश्नों के उत्तर तो आपने दे दिए। अब इस प्रसंग में एक नया प्रश्न उत्पन्न हो गया है। मेरा प्रश्न सुनकर आप मुझे कुतर्की न समझ लीजिएगा। मैं कुतर्क नहीं करता किंतु जिज्ञासा करता हूँ।

हे पितामह ! आप कह चुके हैं कि दूसरों को सुख-दुःख देने से जो धर्माधर्म उत्पन्न होता है वही कालांतर में अपना सुख-दुःख-प्रदायी हुआ करता है। अतः केवल वेदाध्ययन ही से धर्म का निश्चय नहीं हो सकता। क्योंकि यथोचित व्यवस्था न होने से वैदिक-धर्म अत्यंत दुर्ज्ञेय है।

सब पुरुषों के धर्म स्वतंत्र हैं। आपदाओं का अंत नहीं, अतः धर्म को भी अनंत कहना पड़ेगा। अनंत होने ही से धर्म दुर्ज्ञेय हुआ है। इसलिये अव्यवस्थित वैदिक धर्म का धर्मत्व किस प्रकार सिद्ध हो सकेगा ?

धर्म का एक लक्षण आपने सदाचार बतलाया है। परंतु धर्माचरण ही तो सदाचार है। इसलिये लक्ष्य और लक्षण के अन्योन्याश्रय दोष से सदाचार को धर्म का लक्षण क्योंकर मानें ? इसमें यह बड़ा भारी दोष आता है कि कोई तो प्राकृत मनुष्य धर्म रूप से अधर्म समझा जाता है और कोई असाधारण पुरुष अधर्म रूप से धर्माचरण करता है। शूद्रों को शास्त्रों में वेद सुनने का निषेध होने पर भी, प्राकृत शूद्र धर्म-बुद्धि के कारण मुमुक्षु बनकर वेदांत सुना करते हैं और अगस्त्यादि असाधारण महर्षियों ने बहुत से हिंसायुक्त अधर्माचरण किए

हैं। इसलिये भ्रष्ट लोगों में शिष्ट लक्षण विद्यमान रहते हुए सदाचार का निर्णय करना भी अत्यंत दुस्साध्य है।

परंतु धर्मवेत्ताओं ने धर्म के ये ही लक्षण बतलाए हैं। मैंने सुना है, युग युग में वेदों में कमी होती चली जाती है। अत: काल-भेद से वेद में भी तारतम्य होता रहता है, तब उस अनवस्थित वेदवाक्य को क्योंकर मान्य ठहराया जाय? सत्युग का धर्म स्वतंत्र है और कलियुग का भी स्वतंत्र है। अनवस्थित वेद से उत्पन्न स्मृतियाँ भी अनेक मुखों से उत्पन्न होने के कारण कैसे प्रामाणिक मानी जायँ? सबका प्रमाण वेदवाक्य सारी स्मृतियों के प्रमाणों को सिद्ध करता है, यदि यह भी मान लिया जाय तो वेदवाक्य का निरपेक्षत्व-निबंधन प्रमाण मानना पड़ेगा। किंतु सारी स्मृतियाँ "श्रुति-संक्षेप" कहकर अप्रमाण रूप से परिगणित हुआ करती हैं। जब अप्रमाण-रूपी स्मृतियों के साथ श्रुति का विरोध दिखलाई पड़ता है तब मूल-भूत वेदवाक्य का भी अप्रामाणत्व, बिना एक पक्षपातिनी युक्ति के किस प्रकार सिद्ध होगा?

बलवान् दुरात्माओं द्वारा अनुष्ठित धर्म का जो रूप बिगड़ा करता है, वही नष्ट होता है। हम स्वयं इस धर्म को जान सकें या न जान सकें, तो भी धर्म छुरे की धार की तरह अति सूक्ष्म और पहाड़ से भी अधिक भारी है। पहले धर्म गंधर्वनगर की तरह अद्भुत दीख पड़ता है, अर्थात् कर्मकांड में कहा है चातुर्मास-याजी को अक्षय्य पुण्य होता है, "हम सोम-

पान करेंगे, अमर होंगे।" इत्यादि श्रुतियों का अद्भुतत्व दीख पड़ता है। अनंतर कवियों के द्वारा उपनिषदों में वही धर्म फिर अदृश्य हो जाता है। अर्थात् उपनिषत्कार कहते हैं—"कर्म मात्र ही अनित्य हैं। कर्म द्वारा जिस लोक की प्राप्ति होती है, उसका भी नाश होता है।" अतः उपनिषदों के मतानुसार कर्म का प्राधान्य समूल नष्ट होता है।

हे पितामह! जैसे पशुओं के पीने से शुद्ध तालाब के जल से खेत्रों के सींचने में उसका संपूर्ण जल सूख जाता है, वैसे ही शाश्वत धर्म अंगहीन होकर कलियुग के अंत में अदृश्य होगा। इसी प्रकार भविष्य-विषयिणी स्मृतियाँ हैं। निज इच्छा अथवा पराई इच्छा तथा अन्य किसी कारण से बहुतेरे असत् पुरुष वृथा आचार किया करते हैं। साधुओं के आचरित कर्म ही धर्म से मालूम होते हैं। परंतु मूढ़-दृष्टि से देखने से वे ही धर्म साधुओं में प्रलाप मात्र जान पड़ते हैं। इसी से मूढ़ लोग साधुओं को सनकी कहा करते हैं और उनका उपहास करते हैं। द्रोणाचार्य आदि महाजनों ने ब्राह्मणों के कर्त्तव्य कर्मों का अनादर कर क्षत्रियोचित कर्मों को ग्रहण किया। इसलिये वे कोई सर्वहितकर काम न कर पाए। इसी प्रकार आचार के द्वारा निकृष्ट जाति भी उत्कृष्ट होती है और उत्तम वर्ण भी निकृष्ट हुआ करते हैं। कभी ही कोई पुरुष दैवेच्छा से आचार द्वारा समान रूप से रहते हों। विश्वामित्र, जमदग्नि और वशिष्ठ आदि इस बात के दृष्टांत हैं।

जिस आचार के द्वारा एक मनुष्य उन्नत होता है वही आचार दूसरे को अवनत करता है। इस पर विचार करने से सब आचारों में अनैक्य दीख पडता है। प्राचीन पंडित सदा से जिस धर्म को स्वीकार करते चले आते हैं, आपने उसी का वर्णन किया है। अतः उस प्राचीन आचार के द्वारा सुख-दुःख आदि कार्याकार्य की व्यवस्था नहीं हो सकती।

युधिष्ठिर की विस्तृत शंका को सुन भीष्म ने कहा—धर्म के बारे में जाजली के संग तुलाधार की जो बातें हुई थीं, इस शंका के समाधान में प्राचीन लोग उसी पुराने इतिहास का उदाहरण देते हैं।

जाजली नामक एक वनचारी ब्राह्मण जंगल में वास करता था। उस महातपस्वी ने समुद्र के तट पर बैठकर बड़ी तपस्या की थी। वह बुद्धिमान् मुनि मन को अपने वश में कर और नियताचारी होकर, अनेक वर्षों तक जटा और मृगछाला धारण कर, कृशकाय हुआ। वह महातेजस्वी ऋषि समुद्र के जल में रहता था। जब उसे वहाँ रहते बहुत दिन बीत गए, तब उसे सब लोकों को देखने की इच्छा उत्पन्न हुई। तब उसने इच्छा-नुसार वेष धारण किया और वह विचरने लगा। अनंतर वन-सहित ससागरा पृथिवी देख, वह कहने लगा कि मुझे ऐसा कोई नहीं दीख पड़ता जो मेरे साथ चलकर आकाश-मंडल के नक्षत्रादि लोकों की सैर करे। वह जल में अपने को छिपा-कर जब यह कह रहा था तब पिशाचों ने उससे कहा—

पिशाच—हे द्विजसत्तम*! ऐसा मत कहो। वाराणसी में तुलाधार नामक एक व्यापारी है। वह बड़ा यशस्वी है। तुम जैसा कहते हो, वह ऐसा अपने मुँह से नहीं निकाल सकता।

यह सुन जाजली ने कहा—"यदि ऐसा है तो मैं तुलाधार से जाकर मिलता हूँ।" पिशाचों के द्वारा वाराणसी का मार्ग जानकर जाजली तुलाधार से मिलने गया और उससे मिलकर फिर उसने अपनी वही बात उसके सामने दुहराई।

तुलाधार ने कहा–हे ब्राह्मण! अब मैं जो कुछ कहता हूँ उसे सुनिए। आप पहले कभी धर्म का नाम तक नहीं जानते थे, फिर समुद्र के तट पर बैठकर आपने तपस्या की। अंत में जब आप तपस्या करते करते सिद्ध हुए तब आपने ऐसी घोर तपस्या की कि आप अपने तन की सुध-बुध भूल गए और आपकी जटाओं में पक्षियों ने घोंसला बना लिया और उसमें बच्चे उत्पन्न हुए। हे द्विज! जब वे पक्षी-शावक उड़-कर चले गए तब आपने अपने मन में समझा कि "पक्षी के शावकों का पालन करने से धर्म होता है।" अनंतर आपने अहंकार में भर जल के भीतर कहा—"ऐसा कोई नहीं है जो मेरे साथ चलकर आकाश-मंडल के लोकों की सैर करे।" इस पर पिशाचों ने आपको मेरा नाम बतलाया और आप मेरी परीक्षा के लिये यहाँ आए हैं।

तुलाधार की बातें सुन जाजली को विस्मय हुआ और उन्होंने उससे पूछा—हे वणिक्पुत्र! तुम रस, गंध आदि

वस्तुओं को तो बेचते हो, पर मैं देखता हूँ कि तुम्हारी बुद्धि बड़ी निर्मल है। यह तो बतलाओ, तुम्हारी ऐसी नैष्ठिकी बुद्धि क्योंकर हुई ? किस प्रकार ऐसा ज्ञान प्राप्त हुआ ? हे महाप्राज्ञ ! पहले तुम मेरे इन प्रश्नों का ही विस्तारपूर्वक उत्तर दो।

भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि जाजली के इस प्रकार पूछने पर धर्मार्थ के तत्त्व को जाननेवाले तुलाधार ने जाजली को धर्म का मर्म समझाया।

तुलाधार कहने लगा—हे जाजली ! इस लोक में सब प्राणियों के हितकर पुराण-धर्म को मैं जानता हूँ। मैं रहस्य-सहित सनातन धर्म को जानता हूँ।

जीवों से द्रोह न करके अथवा आपत्काल में अल्प द्रोह करके जो जीविका निबाही जाती है, वही परम धर्म है। मैं भी वैसी ही वृत्ति का अवलंबन कर जीवन व्यतीत करता हूँ। मैंने काठ के टुकड़ों से यह घर बनाया है। अलक्त, पद्मक और तुंगकाष्ठ, कस्तूरी आदि विविध सुगंधित वस्तुएँ और नमक आदि रस मैं बेचा करता हूँ। मद्य मैं नहीं बेचता। मेरे घर में ये वस्तुएँ उत्पन्न नहीं होतीं। मैं भी दूसरों से इन्हें मोल लेता हूँ और उनकी कुछ दर बढ़ाकर, बिना कपट व्यवहार किए, दूसरों के हाथ बेच दिया करता हूँ। यही मेरी आजीविका है।

मैं किसी से किसी बात का अनुरोध नहीं करता। न मैं किसी से विरोध करता हूँ और न किसी से कोई वस्तु माँगता

हूँ। मैं सबको समान समझता हूँ। यही मेरा व्रत है। मैं सबको एकसा सौदा देता हूँ, किसी को कम या अधिक नहीं देता। आकाश-मंडल में स्थित विविध रूपवाले मेघों की तरह जगत् की विचित्रता देख न तो मैं किसी की प्रशंसा करता हूँ और न किसी की निंदा। आँख, कान, जिह्वा सहित पुरुष जैसे जीते हैं, मैं भी उसी प्रकार जीता हूँ। क्योंकि ब्रह्म को वही देख सकता है जो न तो किसी से द्वेष करता है और न जिससे कोई द्वेष करता है। जिसे किसी वस्तु की इच्छा नहीं है वही पुरुष अद्वेष्टा हो सकता है। जिसका भूत भविष्य कोई कर्म ही नहीं है और जिससे किसी को भय नहीं होता, वही अभय पद पाता है। मृत्यु-दु:ख के समान क्रूर वचन कहनेवालों, कठोर दंडधारियों को जिनसे सब लोग व्याकुल होते हैं, महत् भय प्राप्त होता है। मैं अपने बाल-बच्चों के साथ अहिंसा-व्रत-परायण बूढ़ों के चरित्रों का अनुवर्तन किया करता हूँ। किसी अंश में विरुद्ध सदाचार से मोहित शाश्वत वैदिक धर्म अनुद्दिष्ट हुआ है, इसी निमित्त चाहे विद्यावान् हो चाहे जितेंद्रिय ही हो, या क्रोध, काम का जीतनेवाला बड़ा बलवान् ही हो, ऐसा कोई नहीं जो धर्म-संबंधी विषयों में मोहित न होता हो। जो दांत पुरुष द्रोह-रहित अंत:करण से साधुओं के संग सदाचरण करता है, वह बुद्धिमान् पुरुष आचार के द्वारा शीघ्र ही धर्म-लाभ करने में समर्थ होता है। जैसे नदी के प्रवाह में बहता हुआ काठ

अकस्मात् दूसरे काठ से जाकर मिल जाता है और दोनों काठ परस्पर मिल जाते हैं, वैसे ही मनुष्यों के कर्म-प्रवाह के द्वारा पुत्र स्त्री आदि का भी संयोग-वियोग है। जिनसे कोई जीव भी किसी प्रकार व्याकुल नहीं होते, हे मुनि! वे ही सब प्राणियों से सदा अभय रहते हैं। जैसे बड़वानल से किनारे पर रहनेवाले सब जलचर और चीत्कार करनेवाले हिंसक भेड़िए से सब वनचर जीव डरते हैं, वैसे ही जिस मनुष्य से सब लोग डरा करते हैं, उसे महत् भय प्राप्त होता है। इसलिये अभय-दान रूपी आचार से सब प्राणियों को अभय करना चाहिए। जिनके अंतःकरण में थोड़ा सा बाह्य सुख रेखा की भाँति प्रतिष्ठित है, वे भी कीर्त्ति के लिये अभयदान करें और निपुण मनुष्य भी परब्रह्म की प्राप्ति के लिये अभयदान में दीक्षित हों। तपस्या, यज्ञ, दान और बुद्धियुक्त वचन से इस लोक में जो सब फल मिलते हैं, वे सब फल अभयदान के सहारे प्राप्त होते हैं। जगत् में जो लोग जीव मात्र को अभय-रूपी दक्षिणा देते हैं, वे सब यज्ञभाजन के फलस्वरूप अभय दक्षिणा पाते हैं। अहिंसा से बढ़कर श्रेष्ठ धर्म नहीं है।

सब कर्म स्वर्ग-फल-साधन के हेतु कभी सुगम होते हैं और कभी स्वर्ग-फल-भोगांतर पतन आदि के निमित्त दुर्गम हुआ करते हैं। इसलिये कर्त्तव्य का विनाशत्व देखकर सज्जन लोग सदा कर्म की निंदा किया करते हैं।

स्थूल धर्म्म यज्ञादि से सूक्ष्म अभयदान धर्म का अनुष्ठान करने से वह फलहीन नहीं होता। ब्रह्मप्राप्ति और स्वर्ग-लाभ के लिये वेद में शम, दम आदि के साधन और यज्ञ आदि धर्म विहित कहे गए हैं, क्योंकि अभय-दान धर्म अत्यंत सूक्ष्म होने से वह पूर्ण रीति से जाना नहीं जाता। वेद में कहीं कहीं वैध हिंसा की विधि है और कहीं अहिंसा की विधि बलवती हुई है, इसलिये वैदिक-धर्म अत्यंत अंतर्गूढ़ है।

सब आचार जानने के लिये उद्यत होने पर भी उसके बीच अनेक प्रकार के विभिन्न व्यवहार मालूम हुआ करते हैं। जिन बैलों के वृषण काटे जाते हैं और जिनकी नासिका में छेद किया जाता है वे बहुत सा बोझा ढो सकते हैं। मनुष्य उनको बाँधते हैं और उनका दमन करते हैं।

जो जीवों को मारकर खाते हैं, उनकी निंदा क्यों नहीं की जाती? मनुष्य मनुष्यों को दासत्व-शृंखला में बाँध रखते हैं। दूसरी जाति की बात दूर रहे, वे लोग स्वजाति के लोगों को, रात दिन, वध-बंधन और निरोध कर दुःख दिया करते हैं।

साथ ही अपने वध-बंधन से जो दुःख हो सकता है, इससे वे लोग अनभिज्ञ नहीं हैं।

पंच इंद्रिय-युक्त जीवों में सब देवता निवास करते हैं। सूर्य, चंद्रमा, वायु, ब्रह्मा, प्राण, ऋतु और यम—ये सारे देवता जिस जीवदेह में निवास करते हैं उन जीवों के बेचने में जब कोई फल नहीं है, तब मृत जीवों के नियम में विचार की

क्या आवश्यकता है? बकरे, भेड़, घोड़े, जल, पृथ्वी, गौ, बछड़े और सोमरस बेचने से मनुष्य सिद्ध नहीं होता। हे ब्रह्मन्! इसलिये तेल, घृत, मधु और ओषधि बेचने की बात कुछ कार्यकरी नहीं है।

अपनी जननी के परमप्रिय पशुओं को कीचड़ आदि से युक्त मच्छड़ों से भरे हुए स्थान में बाँधकर जो लोग पशुओं पर अत्याचार करते हैं, ऐसे पशु-पीड़न की अपेक्षा भ्रूण-हत्या अधिक पापयुक्त नहीं है।

गऊ अवध्य है, इसी से उसका नाम अध्वी है। इसलिये कौन पुरुष उस पर हाथ उठा सकता है!

जो पुरुष गऊ अथवा बैल की हिंसा करता है, वह बहुत बुरा काम करता है।

जितेंद्रिय ऋषियों ने नहुष के सम्मुख यह विषय छेड़ा था। उन्होंने कहा था कि गऊ मातृ-स्वरूपा और वृषभ प्रजापति-स्वरूप है। तुमने उनका वध किया है। हम तुम्हारे इस कर्म से बहुत व्यथित हैं।

गोहत्या और ब्रह्महत्या का पाप समान है। इसी से लोग नहुष को भ्रूणहत्या करनेवाले कहा करते हैं।

तुलाधार ने कहा—जाजली! इस लोक में ऐसे घोर अकल्याणकर अत्याचार के रहते भी, अर्थात् मधुपर्क में पशुवध आदि प्रथित रहने पर भी, तुम भली भाँति उसे समझने में समर्थ नहीं हो।

कारण के अनुसार धर्माचरण करे। जिससे जीवों को भय न हो उसे ही धर्म जाने। एक दूसरे की देखा-देखी व्यवहार न करना चाहिए।

मुझ पर जो लोग प्रहार करें अथवा जो मेरी प्रशंसा करें वे दोनों ही मेरे पक्ष में समान हैं। मुझे हर्ष विषाद कुछ भी नहीं है।

यह सुनकर जाजली ने कहा—तुलाधार, तुम्हारे इस धर्म से तो जीवों का स्वर्गद्वार और उनकी जीविका का द्वार बंद होता है। यदि पशु-हिंसा न की जाय तो यज्ञ पूर्ण नहीं होता। तुम उसी यज्ञ की निंदा करके अपनी नास्तिकता प्रकट करते हो! लोग प्रवृत्तिमूलक धर्म को परित्याग करके कभी जी नहीं सकते।

तुलाधार ने कहा—जाजली! मैं अपनी वृत्ति के विषय में कहता हूँ। मैं नास्तिक नहीं हूँ और न यज्ञ की निंदा ही करता हूँ। यज्ञवित् पुरुष बहुत ही थोड़े हैं। मैं ब्राह्मण-यज्ञ को नमस्कार करता हूँ। जो ब्राह्मण-यज्ञ का प्रकरण जानते हैं, उन्होंने योगरूपी निज यज्ञ को छोड़कर इस समय हिंसामय क्षत्रिय यज्ञ का अवलंबन किया है। हे ब्रह्मन्! वित्तपरायण लोभी आस्तिक लोगों ने वेद-वाक्यों को न जानकर सत्य की भाँति प्रतीत होनेवाले कर्मों का प्रचार किया है। कहा जाता है, इस यज्ञ में यह दक्षिणा दान करना योग्य है। इस प्रकार यज्ञ की अंधाधुंध विधि बढ़ा दी गई है।

इसका फल यह होता है कि यजमान जब यथायोग्य दक्षिणा नहीं दे सकता, तब, चोरी आदि अकल्याणकर विपरीत कार्य्यों की उत्पत्ति होती है।

नमस्कार-स्वरूप हवि, स्वशास्त्रोक्त वेदपाठ और औषध-रूपी सुकृत से प्राप्त हुए हव्य से देवगण प्रसन्न होते हैं। शास्त्र-निदर्शन के अनुसार देवताओं की पूजा हुआ करती है! कामनावान् मनुष्यों की इष्टा-पूर्ति से विगुण संतानों की उत्पत्ति होती है।

यजमान के लोभी होने से उसकी संतान भी लोभी होती है। यजमान के रागद्वेष-रहित होने से उसकी संतान भी वैसी ही होती है। यजमान अपने को जैसा समझता है उसकी संतान भी वैसी ही होती है।

आकाश से निर्मल जल बरसने की भाँति यज्ञ ही से प्रजा-समूह उत्पन्न होता है।

अग्नि में डाली हुई आहुति सूर्य-मंडल में पहुँचती है। सूर्य से वृष्टि होती है, वृष्टि से अन्न होता है और अन्न से प्रजा उत्पन्न होती है।

यज्ञनिष्ठ मनुष्यों ने फलानुसंधान न करके यज्ञ ही से सब वस्तुएँ पाई हैं। उस समय यज्ञ के प्रभाव से पृथिवी में बिना जोते ही शस्य उत्पन्न होते और वृक्षों में अनायास ही फल लगते थे। इसी से लोग कृषि-कार्य्य के निमित्त भूमि में रहनेवाले सर्प आदि प्राणियों की हिंसा में लिप्त नहीं होते

थे। इसके अनंतर यज्ञ आदि कर्म्मों के फल कर्त्ता को नहीं दीखते थे।

यज्ञ करने से फल होता है कि नहीं, इस प्रकार का संदेह जो लोग करते हैं, वे लोग असाधु, दंभी, धनलोलुप और लोभी कहकर विख्यात होते हैं।

हे द्विजवर ! जो कुतर्को से वेदों का अप्रामाणिक होना सिद्ध करता है वह अपने उसी अशुभ कर्म से पापाचारियों के लोक में जाता है और उसे ही इस लोक में लोग पापात्मा और अकृतज्ञ कहते हैं। ऐसे पुरुष की कभी मुक्ति भी नहीं होती।

नित्य कर्म्मों को अवश्य करना चाहिए। उनके न करने से भय होता है, इसे जो लोग जानते हैं, वे ही ब्रह्मनिष्ठ हैं।

इस लोक में जो लोग कर्तृत्वाभिमान और फलाभिलाष परित्याग करके कर्मांगों में ब्रह्मदृष्टि रखते हुए, अशन-पान आदि की भाँति कर्म किया करते हैं, वे ही ब्रह्मनिष्ठ हैं।

श्रुति कहती है, ऐसे ब्राह्मणों के कर्म विगुण होने और अपवित्र कुत्ते, शूकर आदि पशुओं द्वारा विघ्नयुक्त होने पर भी श्रेष्ठ समझे जाते हैं।

पर मेरा कर्म इस विघ्न से नष्ट हुआ है, ऐसा विचार उत्पन्न होने पर, कर्त्ता को प्रायश्चित्त-भागी होना पड़ता है।

जो पुरुष सत्य बोलना, इंद्रियों को वश में रखना ही यज्ञ समझते हैं, परम पुरुषार्थ प्राप्त करने में जिन्हें स्पृहा होती

है, वित्त या विषयों से जिनकी तृप्ति हुई है और जो अगले दिन के लिये वित्त संग्रह नहीं करते, वे ही अमत्सरी हुआ करते हैं।

जो योगनिष्ठ पुरुष क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के तत्त्व को जानते तथा प्रणव का अध्ययन करते हैं, वे दूसरों को संतुष्ट किया करते हैं। सब देवता और समस्त वेद स्वरूप प्रणव ब्रह्मवित् पुरुषों में प्रतिष्ठित हो रहे हैं।

ऐसे ही ब्रह्मवित् पुरुष के तृप्त होने से आदित्य आदि देवता तृप्त और संतुष्ट होते हैं। जो सब रसों से तृप्त हुए हैं, उनकी तरह प्रज्ञान-तृप्त पुरुषों को अनायास ही नित्य तृप्ति हुआ करती है।

धर्म ही जिनका एकमात्र अवलंब है, धर्म ही से जो लोग तृप्त हुआ करते हैं, वे ही समस्त कार्याकार्यों का निर्णय किया करते हैं। कर्म द्वारा जिनका अंतःकरण शुद्ध हो गया है उन प्राज्ञ पुरुषों से बढ़कर दूसरा कोई नहीं है।

जो सात्त्विक पुरुष ज्ञान-विज्ञान से युक्त होकर संसार के पार होना चाहते हैं, वे उस लोक में जाते हैं जहाँ जाने पर जीव कभी च्युत नहीं होता और न कभी व्यथित होता है।

ऐसे लोग स्वर्ग की कामना नहीं करते, धनसाध्य कर्म्मों से परब्रह्म की पूजा करने के अभिलाषी नहीं होते, केवल साधु-मार्ग अर्थात् योग में निवास करते हुए अहिंसा के द्वारा ईश्वर की आराधना किया करते हैं।

ऐसे लोग वनस्पति, फल, मूलों को हवनीय रूप से जानते हैं। धनार्थी ऋत्विक् वैसे निर्धन यजमानों का याजन नहीं करते। उक्त द्विजातियों के सब काम समाप्त होने पर भी वे लोग प्रजा-समूह के विषय में अनुग्रह की अभिलाषा करके अपने लिये अर्थ की कल्पना करते हुए मानसयज्ञ पूर्ण किया करते हैं।

लोभी ऋत्विक् जब निर्धन यजमानों का याजन नहीं करते, तब अवश्य ही वे लोग मोक्ष की इच्छा से रहित पुरुषों ही का याजन किया करते हैं।

साधु लोग स्वधर्माचरण के द्वारा दूसरों का उपकार करते हैं। वे लोग समबुद्धि के कारण धर्मफल की कामना नहीं करते।

हे जाजली! इसी लिये मैं सर्वत्र समबुद्धि हो रहा हूँ। अर्थात् सत् और असत् वृत्ति के विभिन्नता-निबंधन से मैं सदाचरण ही का अनुसरण किया करता हूँ।

हे महामुनि! कर्मठ वा उपासक ब्राह्मण, इस लोक में सदा जो पुनरावृत्ति-प्रद-मार्ग-प्रदर्शक और अपुनरावृत्ति-प्रद-मार्ग-प्रदर्शक यज्ञ-याजन किया करते हैं, वे उसी देवयान-पथ के द्वारा पितृलोक और देवलोक में गमन करते हैं।

देवयान-पथ से गमन करनेवाले कर्म्मठ पुरुषों का पुनरागमन हुआ करता है और मन को रोकनेवाले उपासकों की पुनरावृत्ति नहीं होती! इसलिये कर्मठ और मन को रोकनेवाले ब्राह्मणों में बड़ी विलक्षणता है।

सत्य संकल्पी उपासकों के मन की संकल्प-सिद्धि के द्वारा वृषभ स्वयं जुतकर हल खींचते हैं और गौएँ दूध दिया करती हैं। उनके मानसिक यज्ञ संकल्प ही से सिद्ध होते हैं। संकल्प सिद्ध होने पर वे लोग यूप दक्षिणा आदि यज्ञ के द्रव्यों को मन ही से उत्पन्न किया करते हैं।

जिन्होंने इस प्रकार योगाभ्यास द्वारा चित्त को शोध लिया है, वे क्या मधुपर्क में कभी गो-हिंसा कर सकते हैं?

किंतु जो लोग इस प्रकार के विशुद्ध चित्तवाले नहीं हैं, वे लोग पशुहिंसा करने से अवश्य ही प्रत्यवाय के भागी होते हैं। इसलिये उनको ओषधियों ही से यज्ञ करना विहित है।

त्याग का ऐसा माहात्म्य होने ही से मैंने उसका पुरस्कार तुमसे कहा है। जिसे किसी प्रकार की आशा नहीं है वह न तो किसी को नमस्कार करता है और न किसी की प्रशंसा करता है।

जो स्वयं क्षीण नहीं हैं परंतु जिनके सब कर्म क्षीण हो चुके हैं देवता उन्हें ब्राह्मण समझते हैं।

जो पुरुष वेद-श्रवण और देव-पूजन नहीं करता तथा ब्राह्मणों को दान नहीं देता, वह असुर स्वभाववाला मनुष्य न तो देवमार्ग से और न पितृ-मार्ग से गमन करता है।

इतना सुन जाजली ने कहा—हे वणिक्! मैंने आत्मयाजी योगियों के तत्त्व को नहीं सुना है, इसी निमित्त मैं तुम्हारे

पास आया हूँ। पहले के महर्षियों ने योग-धर्म की ऐसी आलोचना नहीं की है कि उसे सब लोग सहज में समझ सकें। इसी से यह धर्म लोक में प्रवर्त्तित भी नहीं हो सका है।

यद्यपि आत्मस्वरूप यज्ञभूमि में "पशुतुल्य मंदबुद्धि मनुष्य मानसिक-यज्ञ-जनित सुख-पान में समर्थ नहीं होते, तथापि वे लोग किस कर्म के द्वारा सुख पा सकेंगे, यह तुम मुझे बतलाओ।

तुलाधार ने कहा—जिन दांभिकों के यज्ञ श्रद्धाहीनता के कारण अयज्ञ-रूप से पूरे हुआ करते हैं वे लोग आंतरिक अथवा बाह्य किसी भी प्रकार का यज्ञ नहीं कर सकते।

श्रद्धावान् मनुष्य के बाह्य कृत्य एक ही गऊ द्वारा सिद्ध हुआ करते हैं; क्योंकि घृत, दूध, दही विशेष करके पूर्णाहुति, असमर्थ पक्ष में गो-पुच्छ से पितृतर्पण के निमित्त पूँछ के रोम अभिषेक आदि में गो-शृंग और खुर की रज आदि सात प्रकार की वस्तुओं से गो-यज्ञ के कार्य पूरे हुआ करते हैं।

अपवित्र पशुओं से पुरोडाश ही पवित्र समझा जाता है।

जिससे आत्म-साधन होता है, वही यज्ञ भूमि है। आत्मा ही सरस्वती आदि समस्त नदी और पवित्र शैल-स्वरूप है। इसलिये आत्मा को न जान के अन्य तीर्थों का अतिथि न बने।

इस लोक में जो लोग इस प्रकार का अहिंसामय आचरण करते हैं और अपनी शक्ति के अनुसार धर्म्मानुष्ठान किया करते हैं, वे शुभ लोकों को पाते हैं।

भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि तुलाधार इसी प्रकार युक्तिसंगत या सदा साधुओं से सेवित इस धर्म की प्रशंसा किया करता है।

फुटकल उपदेश

युधिष्ठिर के अनेक प्रकार के प्रश्नों का उत्तर देते हुए भीष्म पितामह ने जो उपदेश दिए थे, उनमें से कुछ अनेक प्रसंगों से चुनकर हम नीचे देते हैं—

मन अनर्थयुक्त बुद्धि की प्रेरणा से पाप में फँसता है। अंत में निज कार्यों को कलुषित करके बड़े दुःख भोगता है।

जो लोग पाप करते हैं उन्हें एक न एक विपत्ति सदा घेरे ही रहती है, किंतु जो पुण्यकर्म किया करते हैं वे सदा सुखी और प्रसन्न रहते हैं।

जो पुरुष ब्रह्मलोक में वास करना चाहे वह वेद-शुश्रूषु ब्राह्मणों को वेदाध्ययन करावे।

जिसके चरित्र की परीक्षा न ली हो, उसे विद्या न पढ़ावे।

जैसे अग्नि में तपाने, काटने और घिसने से सुवर्ण की जाँच की जाती है, वैसे ही कुल, शील और गुणों को देखकर शिष्य की परीक्षा ले।

ब्राह्मण को आगे बैठाकर चारों वर्ण वेद सुन सकते हैं।

वेद पढ़ना बड़ा भारी काम है। देवताओं की स्तुति के निमित्त ही स्वयंभू ब्रह्मा ने वेदों का प्रादुर्भाव किया है।

संकल्पित दान न देने का प्रतिफल

जो लोग थोड़ी अथवा अधिक वस्तु दान करने का संकल्प करके फिर उसे नहीं देते उनकी सारी अभिलाषाएँ उसी प्रकार नष्ट हो जाती हैं, जैसे नपुंसक पुरुष की पुत्र की अभिलाषा।

जीव जिस समय जन्मता और मरता है, इस बीच में वह जो कुछ पुण्य संचित करता है, उसका सारा फल उस समय नष्ट हो जाता है जब वह किसी वस्तु को देने की प्रतिज्ञा कर नहीं देता।

सत्य की महिमा

सहस्र अश्वमेधों का फल और अकेला सत्य तराजू पर तौला गया था, परंतु अकेला सत्य उन सहस्र अश्वमेधों के फल से कहीं अधिक गुरु निकला।

सत्य ही से सूर्य तपता है, सत्य ही से अग्नि तपती है, सत्य ही से वायु बहती है, इसलिये सत्य ही से सब प्रतिष्ठित हैं।

सत्य से देवता प्रसन्न होते हैं और सत्य ही से पितर तथा ब्राह्मण प्रसन्न हुआ करते हैं।

सत्य ही को ऋषि परम धर्म कहते हैं, इसलिये सदा सत्य बोलो।

मुनि सत्य ही में रत हैं, मुनियों का सत्य ही विक्रम है; मुनियों की शपथ सत्य है, इसलिये सत्य ही सबसे विशिष्ट है।

सत्यवादी मनुष्य स्वर्गलोक में आनंदित होता है। दम ही सत्य-फल की प्राप्ति का स्वरूप है।

ब्रह्मचर्य-महिमा

जो पुरुष आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत धारण करता है उसके लिये कोई भी पदार्थ अप्राप्त नहीं है।

ब्रह्मचारी, ऋषियों के बीच कई करोड़ वर्षों तक ब्रह्मलोक में निवास करता है।

सदा सत्य में रत, दांत, ऊर्ध्वरेता, विशेष कर ब्रह्मचर्य व्रत में निष्ठ, ब्राह्मण सब पापों को जला देता है, क्योंकि ब्राह्मण अग्नि-रूप कहे गए हैं।

ब्राह्मणों के तपस्वी होने पर यह प्रत्यक्ष दीख पड़ता है कि जिसके प्रभाव से इंद्र डरते हैं ऋषियों के उस ब्रह्मचर्य का फल इस लोक में दिखलाई पड़ता है।

माता-पिता की सेवा का फल

माता-पिता की सेवा करने से पुण्य होता है।

जो लोग पिता की सेवा करते हैं और उनके विषय में कभी असूया नहीं करते तथा माता या भ्राता, गुरु और आचार्य के विषय में पितृवत् व्यवहार करते हैं, उन्हें स्वर्गलोक में पूज्य पद मिलता है।

आत्मवान् पुरुष माता पिता एवं गुरु की सेवा के फल से कभी नरक नहीं देखता।

गोदान-माहात्म्य

गोदान से बढ़कर दूसरा दान नहीं है क्योंकि न्याय से प्राप्त गऊ का दान करने से दाता तुरंत अपने कुल का उद्धार करता है।

साक्षात् गोदान करनेवालों को आठ पग गमन करते ही समस्त फल प्राप्त होते हैं। अर्थात् गृहीता के घर में गऊ के पहुँचते ही उसके बालक, अतिथि और अग्निहोत्र आदि का प्रतिदिन निर्वाह होता है।

ब्राह्मणों को गुणवती, सवत्सा, तरुणी गऊ, वस्त्र उढ़ाकर दान करने से पुरुष सब पापों से छूट जाता है।

गऊ दान करनेवाला उन लोकों में नहीं जाता, जिन लोकों में सूर्य का प्रकाश नहीं पहुँचता।

दसवाँ अध्याय

भीष्म पितामह-कथित राजधर्म

१—राजा की उत्पत्ति

अथवा

राजसत्ताक शासन-प्रणाली का इतिहास

आरंभ काल में राजा का राज्य, दंडकर्त्ता वा दंड कुछ भी नहीं था। प्रजा के लोग ही धर्म्म के अनुगामी होकर आपस में एक दूसरे की रक्षा किया करते थे। पर यह प्रथा बहुत दिनों तक प्रचलित न रह सकी। प्रजा के लोग इस प्रकार शासन करते करते शिथिल पड़ गए और उनका चित्त भ्रम में पड़ गया। चित्त-विभ्रम होते ही बड़ी गड़बड़ मची और उनके धर्म्म-कार्य नष्ट होने लगे। क्रम से लोगों में मोह और लोभ की वृद्धि होने लगी और वे अप्राप्त वस्तुओं की प्राप्ति के लिये अभिलषित हुए। इसका फल यह हुआ कि विषय-वासना और इंद्रिय-सुखादि दुर्व्यसनों ने उनके चित्त में डेरा आ जमाया। वे लोग भोग-विलास में इतने अनुरक्त हुए कि उनका कर्त्तव्याकर्त्तव्य ज्ञान लोप हो गया। यही नहीं, किंतु भक्ष्याभक्ष्य, गमनागमन, स्पर्शास्पर्श का कुछ भी विचार न रहा। तब भला वैदिक कर्म्मों का करना तो दूर की बात

हुई। वेदादिक कर्म्मों के लोप होते ही स्वर्गस्थ देवतागण भयभीत हुए और उन्होंने अपने भय का कारण जगत्पिता ब्रह्माजी से निवेदन किया और ऐसी सुव्यवस्था करने के अर्थ प्रार्थना की जिससे प्राणी मात्र का कल्याण हो।

ब्रह्माजी ने भयभीत देवताओं को आश्वासन दिया। देवता अपने-अपने स्थानों को चले गए। तब ब्रह्माजी ने निज बुद्धिबल से एक लक्ष अध्यायों का एक शास्त्र बनाया। इस ग्रंथ में उन्होंने धर्म, अर्थ और काम का विस्तारपूर्वक वर्णन किया। चतुर्थ पद अर्थात् मोक्ष पद के वर्णन के अतिरिक्त इस ग्रंथ-रत्न में बनियों के धन की रक्षा, तपस्वियों की वृद्धि आदि विषय षड्वर्ग, कर्म-कांड, ज्ञान-कांड, कृषि, वाणिज्य, जीविका-कांड और विशाल दंडनीति का भी विस्तारपूर्वक उल्लेख किया गया। सारांश यह कि व्यवहार-शास्त्र में जितने विषय होने चाहिएँ वे सब इस लक्ष अध्याय-युक्त ग्रंथ में लिखे गए।

यह ग्रंथ सबसे पहले महादेवजी के हाथ में पड़ा। उन्होंने इस ग्रंथ की विशालता देख और मनुष्यों को अल्पायु समझ उस ग्रंथ को संक्षिप्त किया, यहाँ तक कि उन्होंने एक लक्ष की जगह उसमें केवल दस हजार ही अध्याय रक्खे। अनंतर इस ग्रंथ का संक्षिप्त संस्करण जब इंद्र ने देखा तब उनको भी वह ग्रंथ बहुत बड़ा प्रतीत हुआ और देवराज ने उसको घटाकर उसमें पाँच हजार ही अध्याय रक्खे और उसे "बाहु-

दंतन शास्त्र" के नाम से प्रसिद्ध किया। कालक्रम से अब वही शास्त्र "बार्हस्पत्य" शास्त्र के नाम से प्रसिद्ध है। क्योंकि शुक्राचार्य ने उस शास्त्र को संक्षिप्त कर उसमें केवल एक हजार अध्याय रक्खे। फिर जब वह ग्रंथ महर्षियों के हाथ में आया तब उन्होंने अपनी आवश्यकताओं के अनुसार उसे और भी संक्षिप्त बना डाला।

ग्रंथ क्या एक प्रकार का दंड-विधान (Penal code) बन गया और उसमें उचित संशोधन भी हो गए। पर अब आवश्यकता इस बात की हुई कि उस ग्रंथ के अनुसार आचरण करानेवाला भी तो कोई हो। इस अभाव को दूर करने के लिये देवताओं ने जाकर विष्णु को अभिनंदनपत्र दिया और प्रार्थना करते हुए कहा—प्रभो! आप ऐसे एक पुरुष को आज्ञा कीजिए जो मृत्युलोकवासी प्राणी मात्र के ऊपर प्रभुता कर सके।

देवताओं के प्रार्थनानुसार विष्णु ने तैजस और विरजा नाम के दो मानस-पुत्रों को उत्पन्न किया। इन दोनों में से द्वितीय अर्थात् विरजा की शासन की ओर प्रवृत्ति न होकर वैराग्य की ओर प्रवृत्ति हुई। इनके कीर्तिमान् नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ, पर वह बहुत दिनों तक जीवित न रहा। इसके पुत्र कर्दम ने भी बड़ी तपस्या की। कर्दम का अनंग नामक जो पुत्र था वह दंडनीति-वेत्ता था। उसी ने प्रजा की रक्षा का भार अपने ऊपर लिया। अनंग ही मनुष्यों के प्रथम

राजा हुए और ब्रह्मा के बनाए दंड-विधान के अनुसार उन्होंने प्रजा का शासन किया।

२—राजा देव-स्वरूप है

भीष्मजी ने कहा है कि राजा को मनुष्य समझकर कभी उसकी अवमानना न करे, क्योंकि वह महत् देवता, नर का रूप धारण कर पृथिवी पर निवास करता है। राजा ही अग्नि, सूर्य्य, मृत्यु, वैश्रवण और यम की संज्ञा धारण किया करता है। पापों को भस्म करने से राजा की "पावक" संज्ञा है; गुप्तचरों द्वारा सबका रहस्य जानने और प्रजा पुत्र के लिये मंगलजनक कार्य्यों की सुव्यवस्था करने से राजा की "भास्कर" संज्ञा होती है। जिस समय वह क्रुद्ध होकर अपराधियों को नष्ट कर देता है उस समय उसकी "मृत्यु" संज्ञा होती है। जिस समय राजा अपने उपकारियों को पुरस्कृत करता और अपकारियों के धन को हरता है उस समय उसकी "वैश्रवण" संज्ञा होती है। जब वह तीक्ष्ण दंड से अधर्मियों का निग्रह और धर्मात्माओं के ऊपर कृपा करता है उस समय उसकी "यम" संज्ञा होती है।

ऐसे देव-स्वरूप राजा के साथ कभी किसी को द्वेष न करना चाहिए। कारण यह है कि राजा की प्रतिकूलता करने से किसी भी मनुष्ये को सुख नहीं मिलता!

३—राजा के कर्त्तव्य कर्म

पहले राजा अपने मन को जीतकर सब शत्रुओं को जीते।

राजा को उचित है कि वह प्रजा की रक्षा करे और प्रजा की रक्षा करने के अभिप्राय से, दुर्ग में, राज्य की सीमा पर, नगरों में, उपवनों में, चौराहों पर, पैदल सेना (पुलिस) का पहरा रक्खे। वह ऐसे लोगों को अपना दूत बनावे जो देखने में जड़, अंधे और बहरे से जान पड़ें पर वास्तव में वैसे न हों, जो भूख प्यास आदि क्लेशों को सह सकें, बुद्धिमान् हों, और परीक्षा लेने में निपुण हों। इन गुप्तचरों के द्वारा राजा अपने सेवकों, मित्रों और पुत्रों तक के गुप्त आचरणों तक का वृत्तांत जानता रहे। पुर, जनपद और सामंत राजाओं के पास इस ढंग से गुप्तचरों को रक्खे कि वे लोग उनको (गुप्तचरों को) न पहचान पावें। अपने मल्लक्रीड़ा-स्थान, समाज-गृह, भिक्षुकों के ठहरने के स्थान, पुष्प-वाटिका, नगर के बाहरवाले उद्यान, पंडितों के सभागृह, अधिकारियों के वासस्थान, राजसभा और प्रधान पुरुषों के भवनों में गुप्तचरों को नियुक्तकर शत्रु द्वारा भेजे हुए गुप्तचरों की सदा टोह लगाता रहे।

युद्ध-यात्रा के समय राजा को उचित है कि पहले वह नगर की रक्षा का प्रबंध कर दे। यात्रा में जिन वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है, उनको संगृहीत कर ले। फिर बड़ों और पूज्यों का आशीर्वाद और बलवान् सेना साथ लेकर ऐसे राजा पर चढ़ाई करे जो मूर्ख, विचारहीन, स्वजनों से परित्यक्त, अन्य शत्रु के साथ युद्ध में आसक्त, असावधान और निर्बल हो। यदि तिस पर भी शत्रु वश में न हो तो उसके

राज्य को घेरकर पड़ा रहे। शस्त्र, अग्नि, विष आदि के प्रयोग से शत्रु की प्रजा को मोहित करे। अपने नौकरों के द्वारा उसके मित्रों तथा सेवकों में भेद उत्पन्न करा दे। भीष्म के मतानुसार अच्छा और बुद्धिमान् राजा वही है जो साम, दान और भेद द्वारा प्राप्त धन से संतुष्ट रहे।

प्रजा की रक्षा के लिये राजा प्रजा के उपार्जित धन का छठा भाग ले। मतवाले, उन्मत्त आदि दस धर्म्मगत लोगों को दंड देकर, उनसे जितना धन मिल सके ले। क्योंकि यदि ऐसे लोगों को दंड न दिया जाय तो वे समस्त पुरवासियों को क्लेश देते हैं। पुरवासियों का पुत्र के समान पालन करे। किंतु जब कभी उनके उचित अनुचित कार्य्यों के विचार में प्रवृत्त हो तब उनको स्वजन समझकर उन पर स्नेह न करे। राजा को उचित है कि ऐसे पंडितों को नियुक्त करे जो वादी-प्रतिवादी के मामलों को भली भाँति विचारपूर्वक निपटा सकें।

राजा का कर्त्तव्य है कि वह यत्नपूर्वक वेद वेदांग आदि सब विद्याओं को सीखे। राजा को उचित है कि वनपथों में अहीरों को रक्खे। आवश्यकता होने पर गाँवों को एक स्थान से उठाकर छोटे छोटे ग्रामों में बसा दे। राज्य के अंतर्गत गुप्त और कठिनता से जानने योग्य स्थान हों। युद्ध उपस्थित होने पर धनशाली और बलवान् पुरुषों को मीठे वचनों द्वारा ढाढ़स बँधाकर उन्हीं स्थानों में भेज दे। राजा स्वयं जाकर निज राज्य के शस्यों को अलग करके मार्ग बनवावे

और उनमें यदि न जा सके तो चारों ओर से आग लगाकर उन सब को भस्म कर दे। शत्रु के मित्रों में भेद कराके अथवा निज बल ही से शत्रु के क्षेत्रस्थित अनाज को नष्ट कर दे। नदी-पथ में बने हुए बाँधों को तोड़ दे। जहाँ जल अधिक हो उसे निकाल दे। यदि उसके निकालने की सुविधा न हो तो उस जल में विष मिलाकर उसे बिगाड़ डाले। जिन स्थानों में शत्रु आश्रय ले सकें, उन स्थानों को विध्वंस कर दे। चैत्य वृक्ष के अतिरिक्त अन्य सब वृक्षों की जड़ काट दे, किंतु चैत्य वृक्ष का पत्ता तक न मोड़े।

दुर्गों की प्राचीर, शूरों के रहने के लिये स्थान आदि बनवावे। वायु का निकास, किले के भीतर से शत्रु के देखने के लिये छिद्र तथा आग्नेयास्त्र आदि अस्त्रों के चलाने के लिये भी दीवारों में छिद्र बनवावे। दुर्ग की परिखा को घड़ियाल और बड़े शरीरवाले मत्स्यों से भरे। नगर से बाहर जाने के लिये छोटे छोटे द्वार बनवावे और उन छोटे द्वारों पर भी पहरे-चौकी रक्खे। प्रत्येक द्वार पर ऐसी शतघ्नी (तोपें) रक्खे जो आवश्यकता पड़ने पर तुरंत चलाई जा सकें। बहुत सा काष्ठ एकत्र कर रक्खे और स्थान स्थान पर कुएँ खुदा दे। साथ ही जो कुएँ पहले के बने हुए हों, उनकी सफाई कराता रहे। चैत्र मास में फूस के झोपड़ों को गीली मिट्टी से लिहसला दे और अन्य स्थानों में पड़े घास-फूस को किसी सुरक्षित स्थान में रखवा दे। आग न लगे,

इस विचार से अग्निहोत्र को छोड़ भोजन भी दिन ही में बनवावे। लुहारखाने और सूतिकागृह की आग का ठीक ठीक प्रबंध कर दे। पुरी की रक्षा के लिये यह डौंड़ो पिटवा दे कि रात में आग जलानेवालों को प्राण-दंड दिया जायगा। भिक्षुक, नपुंसक और सूद खानेवालों को निकाल दे, क्योंकि शत्रु के आक्रमण करने के समय ऐसे लोगों के राज्य में रहने से अनेक प्रकार के उपद्रव खड़े हो जाते हैं। चौराहों, तीर्थों और साधारण लोगों के घरों की रक्षा का उचित उपाय करे और प्रहरी नियुक्त कर दे। भांडार, शस्त्रागार, योधागार, घुड़शाला, गजशाला, सैनिकों की छावनी, ऐसे गुप्त स्थानों में भीतरी मार्ग बनवावे, जिसका पता सहसा शत्रु को न मिले। शत्रु से आक्रांत होने पर राजा को अधिकार है कि वह तेल, चर्बी, मधु, घृत, अनेक प्रकार की ओषधि और धन आदि का संचय कर ले। अंगार, कुश, मूँज, पत्र, शर, लेखक, घास, अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्र और कवच आदि को राजा संग्रह कर रक्खे। रोग, कृत्या, विष और शल्य, चार प्रकार के उत्पातों को शांत करनेवाले, चार प्रकार के चिकित्सकों को एकत्र करे। नट, नाचनेवाले और मल्लों से राजा अपनी राजधानी को सुशोभित करे। अन्य लोगों को प्रसन्न रक्खे। मंत्री अथवा अन्य सेवकों में से जिसके विषय में कुछ भी आशंका हो उसे किसी न किसी प्रकार अपने वश में कर ले। यदि राजा कोप के वशवर्त्ती होकर अकारण ही दूसरों

की अवमानना करे तो उसे उन लोगों को किसी प्रकार शांत करना चाहिए। राजा का मुख्य कर्त्तव्य है कि वह आत्मा, सेवक, कोष, दंड, मित्र, जनपद और पुर-युक्त सप्तात्मक राज्य का यत्नपूर्वक प्रतिपालन करता रहे।

४—राजधर्म

राजा क्षत्रिय हो या अन्य ही जाति या वर्ण का हो, उसे प्रजा को प्रसन्न रखने के लिये उचित है कि शास्त्र-विधि के अनुसार देवता और ब्राह्मणों के प्रति भक्ति और श्रद्धा दिखावे। राजा को सदैव पुरुषार्थ के निमित्त यत्न करना चाहिए। पुरुष के उद्योग के बिना केवल दैव के सहारे राजाओं के कार्य्य कभी सिद्ध नहीं हो सकते। भीष्मजी का मत है कि भाग्य और पुरुषार्थ समान होने पर भी पुरुषार्थ ही श्रेष्ठ है, क्योंकि पुरुषार्थ लोगों को प्रत्यक्ष ही फल देता है और भाग्य पूर्व-पुरुषार्थ का फल मात्र है। यदि दैवसंयोग से किसी कार्य में सफलता प्राप्त न हो तो भी दुःखी न होना चाहिए, किंतु दुगुने उत्साह और यत्न से सफलता प्राप्त करने के लिये उस काम में लगना चाहिए। राजाओं की परम नीति यही है। परंतु राजाओं के कार्य्यों की सफलता का मुख्य कारण सत्य है। राजाओं के कार्य जैसे सत्य से सिद्ध होते हैं, वैसे अन्य किसी भी उपाय से नहीं हो सकते।

राजा को उचित है कि वह अपने दोषों को छिपावे और दूसरे के दोषों को ढूँढ़े। अपने विचारों को छिपावे और दूसरों

के विचारों को जाने। विचारपूर्वक और न्याय के अनुसार समस्त कार्य करे। राजा को बहुत सीधा भी न होना चाहिए, क्योंकि राजा सीधा हुआ तो उसकी प्रजा उसके स्थापित नियमों को भंग करने लगती है, और यदि कठोर भाव धारण करे तो उसकी प्रजा सदा उससे त्रस्त रहती है। अतः राजा को समयानुसार सरलता और कठोरता दोनों ही दिखानी चाहिए।

जो लोग ब्राह्मणों के योग्य सम्मान पाने की इच्छा करें, उनको राजा दंड दे। ब्राह्मण यदि कोई अपराध करे तो उसे देश से राजा निकाल दे, पर प्राणदंड न दे। अन्य वर्णवाले अपराधियों के लिये यह नियम नहीं है।

राजा को क्षमाशील भी न होना चाहिए। राजा यदि प्रजाद्रोही हो, तो राजा-प्रजा में द्रोह बढ़ता है। अतः राजा को उचित है कि प्रजा की पुत्रवत् रक्षा करे। राजा को कभी धैर्यच्युत न होना चाहिए। राजा को अपने सेवकों के साथ सदा हँसी दिल्लगी भी न करनी चाहिए। कारण यह है कि नौकरों के साथ जो स्वामी ऐसा व्यवहार करता है, उसके नौकर ढीठ हो जाते हैं और अपने स्वामी का सम्मान भी नहीं करते, स्वामी की मर्य्यादा को अतिक्रम कर, उसकी आज्ञा को उल्लंघन करते हैं। जब उनको उनका स्वामी किसी काम को करने के लिये आदेश देता है, तब वे अनेक प्रकार के संशय प्रकट करते हैं, छिपाने योग्य बातों को प्रकट कर देते हैं, जो वस्तु माँगने योग्य नहीं उसे माँग बैठते हैं। राजा के सामने ही

वे खाते और अपने प्रत्येक कार्य में अपने को राजा से भी अधिक चतुर लगाते हैं। इतना ही नहीं किंतु ऐसे मुँहलगे राजभृत्य, प्रजा से घूँस लेकर, राजा को बदनाम कर देते हैं, जाली आज्ञापात्र बनाकर राज्य के काम-काज में गड़बड़ डालते हैं। राजा जैसे वस्त्र पहनता है, वैसे ही वे भी पहनते हैं और अंत:पुरवासिनी स्त्रियों के पास आने जाने का भी साहस करने लगते हैं। राज-सभा में भी ऐसे लोग राजा से अनकहनी बातें कह बैठते हैं और जब राजा क्रुद्ध होता है तब वे उसके क्रोध को हँसी में टाल दिया करते हैं।

राजा को उचित है कि जिसके साथ संधि करनी चाहिए उसके साथ संधि करे, और जिसके साथ विरोध करना चाहिए उसके साथ विरोध करे। गुरु ही क्यों न हो, यदि वह भी कार्य्याकार्य-विवेक से हीन, गर्वित और कुमार्गी हो, तो राजा उसे अपने राज्य से निकाल दे। राजा सदा प्रजा-रंजन में लगा रहे और सत्य की रक्षा तथा प्रजापालन करता रहे। राजा पराए धन पर कभी मन न चलावे। नौकरों को यथासमय वेतन दे। राजा इस बात का सदा ध्यान रक्खे कि उसकी मंत्रणा सर्व-साधारण में प्रकट न हो जाय। राजा किसी का भी विश्वास न करे।

५—राजा कैसा धन ले सकता है?

कुकर्मी ब्राह्मणों और अब्राह्मणों के धन का राजा ही अधिकारी है।

६—प्रजा की उन्नति के उपाय

राजा दानी, उपवासी और तपस्या में रत हो। वह सदा प्रजा की भलाई के उद्योग में लगा रहे। राजा को उचित है कि वह विद्वानों और धार्मिकों का सत्कार करे। राजा गुंडे बदमाशों को यम की तरह सदा दंड दे। उन्हें कभी भी क्षमा न करे। विद्वान् ब्राह्मणों की सदा रक्षा करे।

राजा को स्मरण रखना चाहिए कि जिस प्रकार वह अपनी प्रजा के अनुष्ठित पुण्य-कार्य्यों के फल में से चतुर्थांश का भागी है, उसी प्रकार उसके राज्य में बसनेवाले दुष्ट एवं मिथ्यावादी जो कुछ बुरे काम करते हैं, उनके फल में से आधे फल को वह पाता है।

यदि किसी की चोरी हो गई हो और वह प्रमाणित हो जाय तथा चोर का पता न चले तो राजा को उचित है कि जितना धन उसका चोरी गया हो उतना ही अपने कोष से निकालकर उसे दे दे।

सब वर्णवालों को जिस प्रकार ब्राह्मणों की रक्षा करनी चाहिए, वैसे ही उनके माल-असबाब की भी। जो कोई ब्राह्मणों का अपकार करे, उसे राजा राज्य में न रहने दे क्योंकि ब्रह्मस्व की रक्षा ही से सबकी रक्षा है।

जिस राजा की बुद्धि शांत और अनृशंस है, वह राज्य की रक्षा नहीं कर सकता। ऐसा राजा असमर्थ समझा जाता है। दान, अध्ययन, यज्ञ और प्रजापालन करने से चाहे

धर्म हो चाहे अधर्म, राजा का जन्म ही इन्हीं कामों के लिये हुआ है।

जब सद्गुणशाली धर्म्मात्मा मनुष्य राजा के मंत्री होते हैं तभी प्रजा की उन्नति होती है, और जिन वस्तुओं का मिलना असंभव है, वे वस्तुएँ राजा को मिलती हैं।

७—वैश्य, शूद्र तथा अंत्यजों के विप्लव करने पर राजा का कर्त्तव्य

ब्राह्मण आदि सब वर्ण दान, तपस्या, अहिंसा और इंद्रिय-निग्रह से अपने अपने कुशल की अभिलाषा करते हैं। किंतु इनमें भी जो ब्राह्मण वेद-बल-शाली हैं वे ही ऐसे समय में शक्तिहीन राजा का उसी प्रकार बल बढ़ाते हैं जिस प्रकार देवतागण इंद्र का। बलहीन किंतु बुद्धिमान् जो राजा हैं वे ब्रह्मबल का आश्रय ग्रहण करके खड़े होते हैं।

ब्राह्मण का कर्त्तव्य है कि जिस प्रकार हो तपस्या, शस्त्रबल, सरलता, शठता आदि द्वारा क्षत्रिय को शासित करे। क्योंकि क्षत्रियों की उत्पत्ति ब्राह्मणों से है। अतएव यदि क्षत्रिय ब्राह्मणों के साथ अनुचित और विरुद्धाचरण करें, तो उनके नियंता ब्राह्मण ही हो सकते हैं। जल से अग्नि, ब्राह्मण से क्षत्रिय और पत्थर से लोहा उत्पन्न हुआ है। इसलिये उनका सर्वत्रगामी तेज निज निज योनि ही में शांत होता है। जब लोहा पत्थर को भेदता है, आग जल को खौलाती और क्षत्रिय ब्राह्मणों से द्वेष करते हैं, तब वह लोहा,

वह आग और वह क्षत्रिय स्वयं नष्ट हो जाते हैं। क्षत्रियों का अत्यंत अजेय तेज ब्राह्मणों ही के पास शांत हुआ करता है। ब्रह्मबल कोमल और क्षत्रियबल निर्बल है।

८—विश्वासपात्र और अविश्वासपात्र मनुष्य

सहार्थ, भजमान, सहज और कृत्रिम, चार प्रकार के राजमंत्री होते हैं। सहार्थ मंत्री वे हैं जो राजा के सामने प्रतिज्ञा कर किसी शत्रु को पराजित कर, उसके अधिकृत राज्य को आपस में बाँट लेते हैं। जिनके घर में पीढ़ी दर पीढ़ी किसी राजा का मंत्रित्व चला आता है, वे भजमान कहलाते हैं। मातृ-स्वस्री आदि सहज और कृत्रिम मंत्री वे हैं जो धर्म्मात्मा हैं, निरपेक्ष हैं और वेतन लेते हैं। जिस बात को राजा पसंद नहीं करता, उस बात की चर्चा राजा के सामने उसके मंत्री कभी न करें। चार प्रकार के मंत्रियों में भज-मान और सहज मंत्री ही श्रेष्ठ हैं। सहार्थ और कृत्रिम मंत्रियों से राजा सदा सशंकित रहे। विशेषकर इनके सामने अथवा इनके द्वारा दुष्ट सेवकों का निग्रह न कराके स्वयं करे। राजा अपने मंत्रियों की रक्षा सावधानतापूर्वक सदा करे, क्योंकि असावधान राजा ही नीचा देखता है। यदि राजा असावधान हुआ तो साधु पुरुष दुष्ट, दुष्ट लोग साधु, शत्रु लोग मित्र और मित्र शत्रु होते हैं। अस्थिर चित्तवाले पुरुष का कोई विश्वास नहीं करता। इसलिये चित्त को राजा सदा सावधान रक्खे।

जो राजा सहसा सब पर विश्वास कर लेता है, उसके धर्म और धन, दोनों का नाश होता है। और जो किसी पर भी विश्वास नहीं करता उसका मर जाना ही अच्छा है। साथ ही अत्यंत विश्वास भी अकाल-मृत्यु का कारण है। अत्यंत विश्वास करने ही से विपद्ग्रस्त होना पड़ता है। क्योंकि जिस पर अत्यंत विश्वास किया जाता है, उसी की मुट्ठी में उसका जीवन हो जाता है। अतएव पुरुष-विशेष का विश्वास और व्यक्ति-विशेष का अविश्वास करना उचित है। यह सिद्धांत राजनीति का मुख्य अंग है और राजा को सदा इसका ध्यान रखना चाहिए। राजा जिसे समझ ले कि मेरे न रहने पर यह राजा होगा, उस पुरुष से सदा सशंक रहे। क्योंकि पंडितों के विचार में राजा का वही शत्रु है। जो पुरुष राजा की अर्थ-वृद्धि से कभी तृप्त नहीं होता और अर्थ-क्षय होने से दुःखी होता है, वही राजा का हितैषी मित्र है। जिसको राजा जान ले कि मेरे न रहने पर यह भी न रहेगा, राजा उस पर पिता की तरह विश्वास करे और अपनी बढ़ती के साथ साथ उसकी भी बढ़ती करे। जो पुरुष धर्म कर्म का नाश देख दुखी होता और उसकी रक्षा में तत्पर रहता है, उस मनुष्य को राजा अपना उत्तम मित्र समझे। साथ ही जो धर्म-कर्म को नष्ट करने की इच्छा रखता है, वही राजा का शत्रु समझा जाता है।

जो मनुष्य व्यसनों से सदा डरता रहता है और धन द्वारा किसी का अनिष्ट नहीं करता, उस मनुष्य को राजा अपना

मित्र बनावे और उसे आत्म-सदृश समझे। जो पुरुष उत्तम कुल में जन्मा हो, जिसका रूप-रंग अच्छा हो, जिसका कंठ-स्वर मधुर हो, जो तितिक्षा और असूया-रहित हो, उसे राजा अपना मंत्री बनावे।

जो मेधावी हैं, जिनकी स्मृति अच्छी है, जो चतुर हैं, जो किसी को नहीं सताते और जो सम्मानित अथवा अपमानित होने पर भी कभी किसी की भलाई बुराई में नहीं रहते, ऐसे लोग यदि ऋत्विक्, आचार्य वा अत्यंत प्रिय मित्र होने पर भी वेतनभुक्त भृत्य बनकर राजा के यहाँ रहें, तो राजा को उचित है कि उनका अधिक सम्मान करे। क्योंकि वे लोग राजा को अपना परम मित्र और धर्म का स्वरूप जानेंगे, और राजा भी उनका पिता की भाँति विश्वास करे।

एक काम पर दो अथवा तीन कामदार नियुक्त करने पर वे लोग आपस में एक दूसरे का दोष ढूँढ़ेंगे, अतः राजा एक कार्य पर एक से अधिक अधिकारी को नियुक्त न करे। जो पुरुष सत्कीर्तियों के अग्रगण्य हुए हैं, जो नीति के बाहर नहीं होते, जो असमर्थ मनुष्य के साथ द्वेष और अनर्थ नहीं करते, जो काम, क्रोध, भय और लोभ के वशवर्त्ती होकर मित्र-धर्म को परित्याग नहीं करते और जो सब कामों में दक्ष और पर्य्याप्त-वादी हैं, वे ही राजा के मुख्य मित्र हैं। जो लोग उत्तम कुल में जन्मे हैं, जिनका स्वभाव उत्तम है, जो क्षमावान् हैं, जो अपनी बड़ाई की डींगें नहीं मारते, जो शूर, आर्य, विद्वान्

कार्याकार्य-विवेक में निपुण, सब कार्यों में दत्तचित्त, उत्तम सहाययुक्त और सत्कर्मपरायण हैं, उन्हें राजा सेवक पदवी पर नियुक्त करे। ऐसे लोग जब अधिकारी बनाए जाते हैं, अथवा आय-व्यय की परीक्षा का काम जब ऐसों के हाथ में सौंपा जाता है, तब कल्याण की वृद्धि होती है। ऐसे लोग चुपचाप आपस में मिलकर सब काम ठीक ठाक कर लिया करते हैं।

राजा अपनी जातिवालों से मृत्यु की तरह सदा डरता रहे। क्योंकि सजातीय लोग समीपस्थ मृत्यु की तरह राजा की उन्नति को कभी नहीं सह सकते; परंतु जो सरल, उदार, वदान्य, लज्जाशील और सत्यवादी हैं उनके नाश की अभिलाषा कोई नहीं करता। जातिहीन मनुष्य को सुख कभी नहीं होता। जातिहीन पुरुष सबके अवज्ञाभाजन होते हैं और जातिहीन पुरुष ही शत्रुओं द्वारा परास्त किए जाते हैं। जब कोई दूसरे से अपमानित होता है, तब उसकी जातिवाले ही उसका सहारा होते हैं। लोगों का यह स्वभाव है कि जो पुरुष बंधु-बांधवों से अपमानित होता है, उसकी जातिवाले उसके अपमान को अपना अपमान समझते हैं। यदि बंधु अपने से सौगुना बढ़ा हो, तो उसकी जातिवाले लोग उसे अपने से हेठा ही समझते हैं। जातिहीन मनुष्य किसी के ऊपर कृपा नहीं कर सकते, जातिहीन पुरुष किसी से नहीं दबते। प्रत्येक जाति में अच्छे बुरे स्वभाव के मनुष्य हुआ करते हैं। अतः

राजा को उचित है कि अपने जातिवालों को सदा सम्मानित कर उन्हें संतुष्ट रक्खे। उनके पास सदा विश्वासी की भाँति अविश्वास-भाव से रहे और उनके सामान्य गुण-दोषों की आलोचना न करे। जो राजा इस प्रकार प्रमादहीन होकर रहते हैं, उनके सब शत्रु प्रसन्न होकर उनके साथ मित्र की भाँति व्यवहार करते हैं।

९—राज-सभा के सदस्यों की योग्यता

जो लोग लज्जालु, जितेंद्रिय, सत्य और सरलता से युक्त तथा प्रिय एवं अप्रिय वचनों को पूर्ण रीति से कह सकने में समर्थ हों, वे ही पुरुष राजसभा के सदस्य होने योग्य हैं।

सदा समीप रहनेवाले, पराक्रमी, संतुष्ट और ब्राह्मण तथा कार्य करने में दक्ष लोग ही राजा के आपद्-सहायक हो सकते हैं।

अच्छे कुल में जन्मे हुए, सदा सम्मानीय तथा अपनी शक्ति को न छिपानेवाले पुरुष राजसभा की शोभा को बढ़ावें।

राजा को उचित है कि परिच्छद कार्य में ऐसे लोगों को नियुक्त करे जो कुलीन, स्वदेशज, बुद्धिमान, रूपवान्, बहुश्रुत, प्रगल्भ और अनुरक्त हों।

राजा ऐसे लोगों को कभी अपने पास तक न फटकने दे जो दुष्ट कुलों में उत्पन्न हुए हों, लोभी हों, नृशंस हों और निर्लज्ज हों। क्योंकि ऐसे लोग तभी तक पास रहते हैं जब तक गाँठ

में टका होता है। किंतु छूँछा हाथ होते ही ऐसे लोग तुरंत नौ-दो-ग्यारह हो जाते हैं।

राजा ऐसे लोगों को सदा प्रत्येक कार्य पर नियुक्त करे जो कुलीन, सत्स्वभावयुक्त, कोमल-हृदय तथा स्वामि-कार्य हितैषी हों।

जिनकी चित्तवृत्ति कभी विचलित नहीं होती, जो लोग विद्वान्, सद्वृत्त, व्रतधारी, सत्यवादी और अक्षुद्र हैं, वे ही अपने स्वामी की श्रीवृद्धि की नित्य कामना किया करते हैं।

जो अनार्य, अधार्मिक, मंदबुद्धि तथा मर्य्यादाहीन हैं, ऐसे लोगों से राजा सदैव धर्म की रक्षा करे।

जो उत्तम कीर्तिवाले हैं, जो युद्ध में स्थित रहकर विक्रम दिखाते हैं, जो सामर्थ्य-युक्त होकर दूसरों का सम्मान करते हैं, स्पर्द्धाहीन पुरुष के साथ स्पर्द्धा नहीं करते, काम, क्रोध, लोभ मोह तथा भय के वशवर्त्ती होकर धर्म नहीं त्यागते, अभिमान-रहित, सत्यवादी, क्षमाशील, जितात्मा, मानी और सब अवस्थाओं में जिनकी परीक्षा ली जा चुकी हो ऐसे गुणयुक्त पुरुष को राजा अपनी सभा का मंत्रदाता अथवा परामर्शदाता बनावे।

जो कुलीन हैं, जो क्षमाशील, पटु, उच्च विचारवाले, शूर, कृतज्ञ और सत्यधर्म से युक्त हैं, वे ही तो साधु हैं और साधु ही राजा के हितैषी परामर्शदाता हो सकते हैं।

यदि बुद्धिमान पुरुष राजा के साथ रहें तो शत्रु भी प्रसन्न होकर मित्र बन जाते हैं। अतएव जितेंद्रिय, बुद्धिमान्, भूति-

काम राजा ऐसे सेवकों के अतिरिक्त अन्य सेवकों के समस्त गुण-दोषों की परीक्षा ले।

उन्नतिशील, ऐश्वर्य्य की इच्छा रखनेवाला राजा, आत्मीय, कुलीन, स्वदेशी, स्रक् चंदनादि विषयों के वश में न रहनेवाले, व्यभिचार-रहित और भली भाँति परीक्षा किए हुए पुरुषों के साथ संबंध करे और अत्यंत श्रेष्ठ योनि से उत्पन्न, वेद जाननेवाले, परंपरागत और अभिमान-शून्य मनुष्यों ही को राजा अपना मंत्री बनावे।

राजा, राजसभा में पाँच ऐसे पुरुषों को अर्थसचिव (Finance Minister) बनावे, जो धैर्य्यवान्, तेजस्वी, क्षमा-शील, पवित्र, अनुरागी, धारणायुक्त और परीक्षित हों।

पर्य्याप्तवादी, वीर, प्रतिपत्ति-विशारद, कुलीन, सत्यवादी, कोमल-हृदय, देश काल पात्र एवं उपायों के जाननेवाले तथा अपने प्रभु के हितैषी पुरुषों को राजा प्रत्येक कार्य्य का अधिकारी बना सकता है।

पर जो मनुष्य तेज-रहित मित्र के साथ संबंध रखता हो वह कभी कर्त्तव्याकर्त्तव्य को निश्चित करने में समर्थ नहीं होता; किंतु सभी कार्य्यों में संदेह उत्पन्न कर दिया करता है। ऐसे मनुष्य को राजा अपनी राजसभा में मंत्रदाता अथवा मंत्री कभी न बनावे।

अल्पश्रुत, उत्तम कुल में उत्पन्न, अर्थ, धर्म, काम से युक्त होने पर भी मनुष्य, मंत्र-परीक्षा के योग्य नहीं होता, अतएव राजा ऐसे को कभी किसी पद पर नियुक्त न करे।

बहुश्रुत होने पर भी नीच कुल में उत्पन्न मनुष्य को राजा अधिकारी न बनावे।

अस्थिर संकल्पवाला मनुष्य बुद्धिमान्, शास्त्रवित्, उपाय जाननेवाला भले ही क्यों न हो, पर उसके आरंभ किए काम बहुत देर में सिद्ध होते हैं। अतः ऐसे लोगों को भी राजा अपनी सेवा में न रक्खे।

इस संसार में जो नीच बुद्धि के मनुष्य कर्म के विशेष फल को न जानकर केवल कर्म मात्र करते हैं, उनका परामर्श राजा कभी न ले।

विरक्त मंत्री पर कभी राजा विश्वास न करे और उसके सामने राजा कभी अपना कोई विचार प्रकट न करे। क्योंकि जिस प्रकार वृक्ष के छिद्र से प्रवेश कर अग्नि उसे भस्म कर डालती है, वैसे ही वह कपटी मंत्री भी दूसरे मंत्रियों के साथ मिलकर राजा को सदा दुखी किया करता है।

राजा क्रोध के आवेश में आकर कभी कभी मंत्री को पद-च्युत भी कर देता है अथवा वचन द्वारा उसका तिरस्कार कर फिर उस पर प्रसन्न हो जाता है। राजा का ऐसा व्यवहार राजा के अनुरक्त मित्र तो सह सकते हैं, किंतु विरक्त कभी नहीं।

सरलता-रहित मनुष्य इतर गुणों से युक्त होने पर भी राजा के विचारों को सुनने योग्य नहीं हो सकते। जो मनुष्य शत्रु से मेल रखकर पुरवासियों का आदर नहीं करता, वह पुरुष शत्रु के समान है और वह राजा का परामर्श सुनने योग्य नहीं है।

मूर्ख, अपवित्र रहनेवाले, चुप्पे, शत्रु की सेवा करनेवाले, अपनी बड़ाई आप करनेवाले, अमित्र, क्रोधी और लोभी, ये सब राजा की मंत्रणा सुनने योग्य नहीं हैं।

आगंतुक पुरुष, अनुरक्त, बहुश्रुत, सत्कृत और संविभक्त होने पर भी राजा की राजसभा में बैठकर मंत्रणा सुनने योग्य नहीं हो सकते।

जो पुरुष व्यर्थ के लिये सुहृद् का सर्वस्व अपहृत कर लेता है वह अन्य अनेक गुणों से युक्त होने पर भी राजसभा का सदस्य बनने योग्य नहीं है।

जो मनुष्य कृतज्ञ, मेधावी, पंडित, जनपदवासी, परम पवित्र और सब कार्य्यों में शुद्धतायुक्त हैं, वे ही पुरुष राजा के विचार के सुनने योग्य हैं।

जो पुरुष ज्ञान-विज्ञान का जाननेवाला, शत्रु के और अपने स्वभाव को आत्म-सदृश समझता है, वही पुरुष मंत्रणा सुनने के योग्य हो सकता है।

जो पुरुष सत्यवादी, सुशील, गंभीर, लज्जालु, कोमलहृदय और परंपरागत विद्वान् है, वही राजसभा का सदस्य हो सकता है।

जो मनुष्य संतुष्ट, सर्वसम्मत, सत्यधर्मवाला, प्रगल्भ, पाप द्वेषी, मंत्रवित्, त्रिकालज्ञ और शूर है, वही पुरुष राजसभा में बैठने योग्य है।

जो मनुष्य शांत वचनों द्वारा सबको वश में करने योग्य हो, उसी से दंडधारी राजा परामर्श ले।

पुर और जनपदवासी लोग जिसका धर्म-पूर्वक विश्वास करते हों, वही योद्धा, नीतिज्ञ पंडित राजा का परामर्शदाता हो सकता है।

पहले कहे हुए गुणों से युक्त पाँच पुरुषों को राजा सम्मान-सहित राजकार्य पर नियुक्त करे, परंतु यदि पाँच जन न मिलें तो परामर्श के लिये तीन से कम न रक्खे।

अपने दोष शत्रुपक्षवाले न जान पावें, राजा ऐसा प्रयत्न करे और शत्रुओं के दोष जानने का यत्न करे। कछुवा जिस प्रकार अपना सिर भीतर छिपा लेता है, वैसे ही राजा भी अपने दोषों को छिपावे।

राज-मंत्रियों का कर्त्तव्य है कि वे राजसभा के परामर्श को गुप्त रक्खें।

राजा मंत्र-रूपी कवच धारण करे और शूर-वीर मंत्री मंत्रांगों की रक्षा करें।

श्रेष्ठ बुद्धिवालों का मत है कि दूत राज्य की जड़ और मंत्र ही राज्य का सार है।

यदि मंत्री और स्वामी अभिमान, क्रोध, मान तथा ईर्ष्या छोड़कर वृत्ति के अर्थ परस्पर एक दूसरे के अनुवर्त्ती हों तो वे सब सुखी हो सकते हैं।

पाँच प्रकार के छल-रहित सेवकों के साथ राजा सदा मंत्रणा करे और पूर्व-कथित तीनों मंत्रियों के अनेक परामर्श तथा उनके चित्त की वृत्ति को यत्नपूर्वक जानकर, अपना तथा अपने उन लोगों का निश्चित मत स्थिर करके, परामर्श के अनंतर उसे प्रकट करे।

परंतु राजा यदि स्वयं अशक्त हो तो सलाह के लिये धर्म, अर्थ और काम के जाननेवाले ब्राह्मण गुरु के निकट जाकर उनसे वह विषय पूछे। यदि उनके साथ राजा का मत मिल जाय, तो उसी विचार को कार्य-रूप में परिणत करे।

पंडितों का मत है कि इस प्रकार जो लोग मंत्र के यथार्थ अर्थ और निश्चय को विशेष रूप से जानते हैं, उनके साथ सदा विचार करके, प्रजा-संग्रह में समर्थ उस मंत्री को राजा प्रणयनकार्य में सदा नियुक्त करे।

जिस स्थान पर बैठकर परामर्श किया जाय, उसके आगे पीछे ऊपर नीचे और तिर्यग् देश में बौने, कुबड़े, लटे, दुबले, गंजे, अंधे, जड़, स्त्री और नपुंसक किसी प्रकार भी न आने जाने पावें।

नौका में बैठकर, कुशकाश-रहित, प्रकाशमान निर्जन स्थान में जाकर तथा भयानक वचन-दोष और वक्र विकारादि सब अंगदोषों को त्यागकर राजा ऐसे विचार करे, जिससे कार्य्य करने का समय हाथ से न निकल जाय।

१०—राजा कैसे स्थानों में रहे ?

धन्व दुर्ग (मरुभूमि युक्त), मही दुर्ग, गिरि दुर्ग, मनुष्य दुर्ग, मृत्तिका दुर्ग, वन दुर्ग आदि छः प्रकार के दुर्गों का आश्रय ग्रहणकर राजा ऐसे पुर बनवावे जो संपत्तिशाली और भरे पूरे हों।

राजा ऐसे दुर्गयुक्त पुर में रहे जो धन-धान्य, अस्त्र-शस्त्र, घोड़े, हाथी, रथ आदि वाहनों से भरा पूरा हो, जिसमें चतुर शिल्पी रहते हों, जिसमें अच्छे अच्छे गवैए और गुणी रहते हों, जहाँ वेदपाठ करनेवाले ब्राह्मण रहते हों और जहाँ देव-पूजन नित्य होता हो।

राजा उक्त दुर्गयुक्त पुर में अपनी राजधानी स्थापित कर अपने कोष, अस्त्रागार, धान्य आदि को सदा बढ़ाता रहे। काठ, लोहा, अंगार, देवदारु काष्ठ, सींग, हड्डी, बाँस, मज्जा, स्नेह, चर्बी, मधु, अनेक प्रकार की ओषधि, सन, सर्ज्जरस अर्थात् धूप, धान्य, अस्त्र, बाण, चर्म्म, स्नायु, बेत, मूँज और वल्वज्ज बंधन, कुएँ के पास जल भरने के बड़े बड़े बरतन, अनेक सरोवर और क्षीरी वृक्ष आदि सामग्री राजा सदा संगृहीत करता रहे।

राजा को उचित है कि अपनी राजधानी में आचार्य, ऋत्विक्, पुरोहित, महा धनुर्द्धारी, योद्धा, राज थवई, ज्योतिषी और चिकित्सकों को सम्मानपूर्वक बसावे।

मेधावी, विद्वान्, धर्म्मात्मा, दक्ष, शूर, बहुश्रुत, कुलीन और पराक्रमी लोगों को सब कामों पर राजा नियुक्त करे।

राजा धार्मिक मनुष्यों का पूजन करे, अधर्मियों को दंड दे और नियमपूर्वक सब वर्णवालों को अपने अपने वर्णोचित कर्म करने की प्रेरणा करता रहे।

बाहर और भीतर, पौर तथा जनपदवासियों से जो काम कराना हो, उसकी जाँच-पड़ताल राजा दूतों द्वारा पहले ही करा ले, अनंतर उसको करावे।

दूत, मंत्र, कोष और दंड की राजा स्वयं आलोचना किया करे।

पुरवासी, जनपदवासी, उदासीन, शत्रु और मित्र आदि सब प्रकार के लोगों के अभिलषित विषयों को दूतों द्वारा राजा जानता रहे। अनंतर राजा यथावसर उनके अभिलषित विषयों की समुचित व्यवस्था अथवा उनका प्रतीकार करे।

राजा को उचित है कि वह अनेक प्रकार के यज्ञ, क्लेश-रहित दान और प्रजा की रक्षा में सदा दत्तचित रहे। परंतु धर्म्मबाधक कोई कार्य्य न करे।

कृपण, अनाथ, बूढ़े और विधवा स्त्रियों की वृत्ति, निज राज्य का पालन और पराए राष्ट्र का विचार-रूपी योग-क्षेम राजा को सदा सिद्ध करने चाहिएँ।

११—राजा का तपस्वियों के प्रति शिष्टाचार

आश्रमवासियों को राजा सदा सत्कार और सम्मान-पूर्वक यथासमय अन्न, वस्त्र और पात्र दान दे।

राजा यत्नपूर्वक तपस्वियों से राज्य के सब कार्य और निज शरीर का वृत्तांत कहे और सदा उनके समीप झुककर रहे।

राजा सब वस्तुओं के त्यागनेवाले, सत्कुल में उत्पन्न तथा बहुश्रुत तपस्वियों को देख के, शय्या, आसन और भोजन से उनका सत्कार करे।

सब प्रकार की आपदाओं में राजा का कर्त्तव्य है कि तपस्वियों पर विश्वास करे।

राजा तपस्वियों को सब कुछ दे और उनसे अच्छी बुद्धि ले पर बार बार उनकी न तो सेवा करे और न उनका अत्यंत पूजन करे।

अपने राज्य में, परराष्ट्र में, अटवी में और सामंत-नगरों में पृथक् पृथक् तपस्वियों को राजा अपना मित्र बनाकर रक्खे और निज राज्य में बसनेवाले तपस्वियों की भाँति परराज्य और अटवी में रहनेवाले तपस्वियों को सत्कार और सम्मान-सहित धन आदि दे। क्योंकि किसी समय यदि राजा को तपस्वियों की शरण में जाने की आवश्यकता पड़ो तो वे व्रत-धारी तपस्वो राजा को इच्छानुसार आश्रय देते हैं।

१२—राज्य की रक्षा और राष्ट्र-संस्थापन

राजा को उचित है कि वह प्रत्येक ग्राम में एक एक पुरुष को अपनी ओर से नियुक्त करे। फिर किसी को दस गाँव, किसी को बीस गाँव, किसी को सौ गाँव और किसी को हजार ग्रामों की प्रभुता दे।॰ एक ग्राम का स्वामी ग्रामवासियों के

गुण-दोषों की छान बीनकर दस ग्रामों के स्वामी से कहे। बीस ग्रामों का स्वामी जनपद में जो जो काम करे, उन सबकी सूचना वह सौ ग्रामों के स्वामी को दे। ग्राम में खाने योग्य जो वस्तुएँ उत्पन्न हों, उन सबका उपभोग एक ग्राम का स्वामी करे और वह दस ग्रामों के स्वामी का और दस ग्रामों का स्वामी बीस ग्रामों के स्वामी का भरण पोषण करे।

जो ग्राम बड़ा उन्नत हो और जिसमें बहुत आदमी रहते हों उस ग्राम की आमदनी से सौ ग्रामों के स्वामी का व्यय निर्वाह होगा। पर सौ ग्रामों का स्वामी जिस ग्राम की आय से अपना काम चलावेगा, वह ग्राम उस राज्य के अनेक पुरुषों के अधीन रहेगा।

सबसे अधिक पदार्थों के उपभोग करने का अधिकारी सहस्रग्रामाधिप होगा। वह राष्ट्रीय लोगों से मिलकर, शाखा नगर और वहाँ के अन्न और धन का प्रबंध करे।

जब कभी युद्धकाल उपस्थित होगा तब धर्म जाननेवाला निरालसी मंत्री सब ग्रामों को देखेगा, और प्रत्येक ग्राम की देख-रेख के लिये एक एक विशिष्ट जन नियत किया जायगा।

जैसे महाघोर प्रबल ग्रह, नक्षत्रों के ऊपर घूमा करते हैं वैसे ही सब अर्थों के ज्ञाता मंत्री, सब श्रेणी के ग्रामाधिपों के ऊपर दौरा करते रहें और उनके कामों की सम्हाल किया करें। इसके अतिरिक्त दौरा करनेवाले इन उच्च अधिकारियों के गुप्त दूत रहें, जो इन ग्रामाधिपों के आचरणों की खबरें अपने स्वामियों को देते रहें।

दौरा करनेवाले मंत्री का कर्त्तव्य होगा कि वह राज्य के पापी, हिंसक, परधन हरनेवाले, शठ और रक्षाधिकृतों (पुलिस) से प्रजा के लोगों की रक्षा करता रहे।

इन दौरा करनेवाले मंत्रियो को खेतों पर लगान, दान-वृत्ति तथा शिल्पियों की आमदनी को देखकर कर लगाना होगा। बनियों की आमदनी पर भी ये ही लोग कर लगावेंगे। किंतु यह कर इतना हो जिससे प्रजा को कर के बोझ से दब न जाना पड़े।

व्यापारी और राजा की हानि न हो, इस विचार को आगे रखकर, प्रजा पर कर लगाना चाहिए। राजा को लोग "अति-खाद्दी" अर्थात् बहुभक्षी भी कहा करते हैं और इसी से लोग उससे द्वेष रखते हैं और प्रजा के विरुद्ध होने पर राजा का किसी प्रकार कल्याण नहीं हो सकता।

अत: जैसे लोग बछड़े को भूखा न रखकर गौ दुहते हैं, वैसे ही बुद्धिमान् राजा राज्य को दुहे, क्योंकि बछड़ा बलवान् होने पर पीड़ा सह सकता है।

साथ ही जिस प्रकार अधिक दूध दुहने से बछड़ा निर्बल होकर निकम्मा हो जाता है, उसी प्रकार अधिक कर लगाने से राष्ट्र निर्बल हो जाता है और उसमें बड़े काम करने की शक्ति नहीं रहती।

जो राजा स्वयं कृपा करके सब प्रकार राष्ट्र की रक्षा करता है, वह बहुत समय तक जीवित रहकर अनेक फल पाता है।

आपत्काल में यदि प्रजा राजा की सहायता के लिये राजा को धन न दे तो राजा प्रजा के धन को अपना कोष समझकर उससे अपना काम निकाले। "

बाहरी डाकुओं के भय को मिटाकर यदि राजा उन डाकुओं से त्रस्त लोगों पर कुछ कर बिठा दे तो वे लोग उस कर से अप्रसन्न नहीं होंगे।

जब कभी विपत्काल में राजा को धन की आवश्यकता पड़े तो वह पहले प्रजा को समझा बुझाकर और अपनी आवश्यकता बतलाकर धन माँगे; किंतु यदि इस पर भी लोग धन न दें तो राजा को अधिकार है कि दबाव के साथ अपने नौकरों को भेजकर रुपए वसूल करावे।

धनोपार्जन विशेषकर वैश्यों द्वारा होता है। अतः राजा का कर्त्तव्य है कि वह सदा वैश्यों को धीरज दे।

धर्मशील राजा प्रजा का हितैषी बनकर देश, काल, बुद्धि और बल के अनुसार प्रजा का शासन करे। राजा राष्ट्र की समृद्धि को अपनी समृद्धि समझकर राज-काज करे।

जैसे बछड़ा अपनी माता के स्तन को न काटकर केवल दूध भर पीता है और जैसे लोग मधुमक्खियों को पीड़ा न पहुँचाकर केवल मधु लेते हैं, वैसे ही राजा राष्ट्र से धन ले।

जैसे बाघिन अपने बच्चे को दाँतों में दबा उठा ले जाती है और जैसे जोंक धीरे धीरे लोहू पीती है, राजा भी उसी भाँति राज्य भोग करे।

राजा को उचित है कि प्रजा से धीरे धीरे कर वसूल करे और उसको धीरे धीरे प्रति वर्ष बढ़ाता जाय। जैसे नए बछड़ों के ऊपर धीरे धीरे बोझ बढ़ाया जाता है, वैसे ही प्रजा पर भी क्रमशः कर-भार रखना उचित है। जिस प्रकार एक साथ बोझ रख जाने से बछड़े के मर जाने का भय है, वैसे ही एक साथ प्रजा पर कर-रूपी बोझ के रखने से प्रजा के विनष्ट हो जाने की आशंका है।

राजा असमय में प्रजा पर कभी कर न बढ़ावे, किंतु समय और नियम के अनुसार शांतवाद से धीरे धीरे कर बढ़ावे।

राज्य के भीतर मदिरा बेचनेवाले, राज्य की उपघातक रूपिणी वेश्या, कुटनी, कुशीलव[1], कितव[2] तथा इसी प्रकार के अन्य लोगों का राजा भली भाँति शासन करता रहे। क्योंकि ऐसे लोगों को यदि स्वतंत्रता प्राप्त हो जाय तो साधारण प्रजा को बड़ा कष्ट मिलने लगेगा।

किसी प्रकार की आपत्ति आ पड़ने पर कोई किसी से दिया हुआ अपना धन न माँगे।

लोग कहते हैं कि राजा सब प्राणियों का शासन करने-वाला है। जो राजा पापियों का शासन नहीं करता, उसे उनके पापों का चौथा अंश भोगना पड़ता है। अतः राजा का मुख्य कर्त्तव्य यह है कि वह पापियों का समुचित रीति से शासन करता रहे।

---

(१) नट, कत्थक, भाट। (२) ज्वारी, ठग।

राजा मद्यशालाओं का विशेष प्रबंध करे और स्वयं उसमें लिप्त न हो। नहीं तो उसका सारा ऐश्वर्य नष्ट हो जायगा।

राजा वंचकों और डाकुओ को कभी अपने राज्य में न बसने दे, क्योंकि ये लोग प्राणियों की भलाई न करके केवल अनिष्ट किया करते हैं।

जो लोग प्राणियों के ऊपर कृपा करते हैं और जो प्रजा की बढ़ती करते हैं उन्हीं पुरुषों को राजा अपने राज्य में बसने दे।

जो अधिकारी प्रजा से राज-कर के अतिरिक्त धन ले, उसे राजा दंड दे।

कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य और ऐसे ही अन्य कामों के लिये अलग अलग लोगों को राजा नियुक्त करे।

राजा इस बात का सदा ध्यान रक्खे कि उसके अधिकारी-वर्ग धनी लोगों को कष्ट न देने पावें, क्योंकि धनवान् पुरुष ही प्रजा के मुख्य अंग और सब प्राणियों में श्रेष्ठ हैं।

राज्य की रक्षा का भार ज्ञानी, शूर, धनी, धर्मात्मा, तपस्वी, सत्यवादी और बुद्धिमानों ही के ऊपर है, अतः राजा इन सब के साथ प्रेम-युक्त व्यवहार करके सत्य, सरलता, अनृशंसता के सहित प्रजा का पालन करे।

राज्य में जो फलदार वृक्ष हों वे काटे न जायँ, क्योंकि ब्राह्मणों का धन-फल-मूल ही है।

राजा सदा लोक-रक्षा के लिये युद्ध करे और उसमें सब लोगों को नियुक्त करे।

राजा सब प्रकार से अपनी रक्षा करता हुआ पृथ्वी की रक्षा करे।

• राजा को उचित है कि अपने व्यसनों और दोषों पर सदा दृष्टि रक्खे। प्रजा के लोग मेरे आचरणों की कैसी समालोचना करते हैं, राजा इस बात को सदा खोज कराकर जानता रहे।

राज्य का शासन अकेले करने में कोई भी समर्थ नहीं है। साहाय्य-हीन राजा धन प्राप्त करने या प्राप्त किए हुए धन की रक्षा करने में समर्थ नहीं होता।

जिसके सब नौकर ज्ञान-विज्ञान के जाननेवाले, हितैषी, सत्कुल में उत्पन्न और कोमल स्वभाव-युक्त हैं, वही राजा राज्य-फल भोग करता है।

जिस राजा के मंत्री उत्तम कुलवाले, घूँस आदि न लेनेवाले, राजा की क्षति को बचानेवाले, साधुस्वभाव, ज्ञानी, अनागत-विधाता और देश काल पात्र के जाननेवाले होते हैं, और जो गई-बीती बातों के लिये सोच नहीं करते, वही राजा राज्य का फल भोगता है।

जिस राजा की प्रजा दुःखी नहीं होती और सदा प्रसन्न, क्षुद्र कामों से रहित और सन्मार्ग का अवलंबन करनेवाली होती है, वही राजा राज्य का फल भोग करता है।

जिस राजा के कोष की बढ़ती आप्त और संतुष्ट पुरुषों द्वारा हुआ करती है, वही राजा उत्तम है।

जिस राजा का राजकाज चलानेवाले प्रजा से घूँस नहीं लेते वह राजा अनेक गुणों से युक्त होता है।

जिस राजा के नगर में व्यवहार, कार्य्य अथवा मामले-मुकद्दमों का निपटारा न्यायपूर्वक होता है और अपराध के अनुसार अपराधियों को दंड दिया जाता है, वही राजा श्रेष्ठ है।

राजधर्म का जाननेवाला जो राजा विचार के साथ मनुष्यों को संग्रह करता है, वही राजा उत्तम है।

१३—दंड का निरूपण

जिसके द्वारा सब अधिकारों की रक्षा होती है उसे ही दंड कहते हैं।

जो राजा दंड-विधान भली भाँति जानता है उसका धर्म कभी लोप नहीं होता।

सुप्रणीत दंड में धर्म, अर्थ और काम ये तीनों सदा विद्यमान रहते हैं।

दैव-दंड सबसे श्रेष्ठ है, उसका रूप जलती हुई आग के समान है। दंड का आंतरिक रूप दुष्टों के हृदय को संतप्त करनेवाला है। इसी से क्रूरता के कारण दंड को आग की समानता दी जाती है।

दंड का बाह्य रूप नीलोत्पल दल के समान श्यामवर्ण है। अर्थात् राजदंड में द्वेष-बुद्धि और धन का लोभ होने से वह मलिन हो जाता है। अतः यह श्यामवर्ण है।

कोई मानदंड के कारण दंड पाते हैं, कोई किसी का प्राण नाश करने के अर्थ दंड-भागी होते हैं। अतः चारों निबंधनों से प्राणियों का वध हुआ करता है।

दंड द्वारा चार प्रकार से धन एकत्र किया जाता है। यथा—(१) वादी प्रतिवादी के निवेदन करने पर उनसे दूना धन लेना, (२) कर द्वारा, (३) कायर ब्राह्मणों से सर्वस्व लेना, (४) प्रजा पर लगान द्वारा।

संसार में यदि दंड की व्यवस्था न हो तो लोग एक दूसरे को खा डालें। दंड के भय ही से लोग शांत रहते हैं।

१४—दंड की उत्पत्ति

युधिष्ठिर द्वारा दंड की उत्पत्ति पूछी जाने पर भीष्मजी ने एक उपाख्यान सुनाया था, उसी का सारांश नीचे दिया जाता है—

अंग देश में वसुहोम नामक एक प्रसिद्ध राजा राज्य करते थे। वे महातपस्वी थे और नित्य नैमित्तिक कर्मों को किया करते थे। एक बार वे अपनी रानी के साथ मुंजपृष्ठ में गए। वह श्याम सुवर्णमय सुमेरु के निकट उस हिमालय के शिखर पर है जहाँ मुंजवट के नीचे राम ने जटा हरण की थी। तभी से उस रुद्र-सेवित प्रदेश का नाम मुंजपृष्ठ कहा जाता है।

एक बार इंद्र द्वारा सम्मानित, निर्भय चित्तवाले राजा मान्धाता उनके पास गए। वसुहोम बड़ी तपस्या कर रहे थे। राजा मान्धाता को सामने देख वसुहोम ने उनका

यथायोग्य आतिथ्य सत्कार किया। अनंतर उन्होंने मान्धाता से उनके सप्तांग राज्य का मंगल अमंगल पूछा। उत्तर में मान्धाता ने कहा—

मान्धाता—हे नरसत्तम! आपने बृहस्पति का सारा सिद्धांत अध्ययन किया है और शुक्राचार्य-प्रणीत आप सब शास्त्रों को जानते हैं। इसलिये दंड की उत्पत्ति क्योंकर हुई, सो कृपा कर मुझे सुनाइए, क्योंकि यह जानने की मुझे बड़ी अभिलाषा है। इस दंड के पहले क्या जाग्रत् होता है? और क्या श्रेष्ठ कहकर बतलाया गया है? संप्रति क्षत्रियों में और दंड में क्या संबंध है?

इसके उत्तर में वसुहोम ने कहा—"सब लोगों के बाबा ब्रह्मा ने यज्ञ करने की इच्छा करके अपने समान ऋत्विक् किसी को न पाया। तब (सुना जाता है कि) उन्होंने मस्तक के द्वारा कई वर्ष तक गर्भ धारण किया।* सहस्र वर्ष पूरे होने पर वह गर्भ गिरा।† उस गर्भजात बालक का नाम क्षुप् हुआ और प्रजापति उसकी संज्ञा हुई। क्षुप् ही ब्रह्मा के यज्ञ में ऋत्विक् हुए। प्रजापति के इस यज्ञारंभ में दृष्टरूप का मुख्य कारण वह दंड अंतर्द्धान हुआ। दंड के अंतर्द्धान होने पर

---

* पुराणकर्त्ताओं के कथन की यह एक शैली विशेष है। "मस्तक के द्वारा गर्भ धारण किया" अर्थात् इस अभाव को मेटने के लिये ब्रह्मा ने उपाय सोचा।

† "गर्भ गिरा" अर्थात् विचार निश्चित हुआ।

प्रजा वर्णसंकर होने लगी। कार्य्याकार्य, भक्ष्याभक्ष्य का कुछ विचार न रहा। तब पेय। अपेय के बारे ही में क्यों कोई विचार करने लगा? उस समय गम्यागम्य की भी कुछ व्यवस्था न रही। अपना धन और पराया धन समान हो गया। जैसे कुत्ते मांस-पिंड ले लेकर भागते हैं वैसे ही लोग एक दूसरे के धन को छीनने, खसोटने में प्रवृत्त हुए। बलवान् लोग निर्बलों को मारने लगे। सारी मर्य्यादा नष्ट-भ्रष्ट हो गई।

तदनंतर लोकपितामह ब्रह्मा ने विष्णु भगवान् का पूजन कर उनसे कहा—

ब्रह्मा—हे केशव! इस विषय में आपको कृपा करनी उचित है। प्रजा में वर्णसंकरत्व न फैलने पावे, अब इसका कुछ उपाय निकालना आवश्यक है।

इसे सुन भगवान् बड़े विचार में पड़े। अंत में आप ही ने अपने को दंड रूप से उत्पन्न किया। उससे धर्म्माचरण के कारण, नीति-रूपिणी सरस्वती देवी ने तीनों लोकों में विख्यात दंडनीति को उत्पन्न किया। शूलधारी महादेव ने फिर कुछ समय तक ध्यान करके उस दंड काल के लिये एक एक पुरुष को अधीश्वर बनाया। तदनंतर इंद्र देवताओं के राजा नियत किए गए। वैवस्वत यम को पितरों की प्रभुता दी गई। धन और राक्षसों को वश में रखने का काम कुबेर को सौंपा गया। सुमेरु शैलपति और समुद्र सरित्पति बनाए

गए। जल और असुरों पर वरुण को प्रभुता दी गई। मृत्यु को प्राण और हुताशन को तेज का प्रभुत्व दिया गया।

वशिष्ठ ब्राह्मणों के और अग्निदेव वसुओं के स्वामी बनाए गए। सूर्य को तेज और चंद्रमा को नक्षत्रों की प्रभुता दी गई। अंशुमान् लता-समूह के स्वामी बनाए गए। संहार करने-वाला काल सबका प्रभु बनाया गया। क्षुप् दंड के स्वामी बनाए गए।

अनंतर उस यज्ञ के पूर्ण होने पर महादेव ने उस दंड-यज्ञ का सत्कार करके धर्मरक्षक विष्णु के ऊपर उसका भार अर्पित किया। विष्णु ने उसे अंगिरा को प्रदान किया। मुनिसत्तम अंगिरा ने इंद्र और मरीचि को, मरीचि ने भृगु को और भृगु ने ऋषियों को वह धर्मयुक्त दंड दिया। ऋषियों ने लोकपालों को और लोकपालों ने उसे क्षुप् को दिया। अनंतर क्षुप् ने आदित्य-पुत्र मनु को दिया। यही दंड की उत्पत्ति है। न्याय अन्याय का पूरा पूरा विचार करके धर्म्मानुसार दंड की व्यवस्था करनी चाहिए। इच्छानुसार दंड देना उचित नहीं है।

दुष्टों के निग्रह ही का नाम दंड है। सुवर्ण आदि दंड केवल लोगों को भय दिखाने के लिये होता है। शरीर का अंगहीनत्व और प्राणदंड, अल्प कारण-वश नहीं होते। शारीरिक दंड, ऊँचे स्थान से नीचे गिराया जाना, देह-त्याग, स्वदेश से निकाला जाना, ये विशेष अपराधों के दंड हैं।

सूर्यपुत्र मनु ने प्रजा की रक्षा के लिये दंड की यथोचित व्यवस्था की थी। यह दंड ही प्रजा का पालन करते हुए सदा जागता रहता है।

१५—मित्रामित्र विचार

भीष्म ने कहा—

लोभी, क्रूर, कर्मत्यागी, धूर्त्त, शठ, नीचाशय, पापी, सब से सशंकित रहनेवाले, दीर्घसूत्री, गुरु की स्त्री हरनेवाले, विपद् में पड़े भाई-बंधुओं को त्यागनेवाले, दुष्टात्मा, लज्जा-रहित, सब प्रकार के पापदर्शी, नास्तिक, वेदनिंदक, जन-समाज में स्वेच्छाचारी, इंद्रियों के वश में रहनेवाले, लोगों से द्वेष करनेवाले, कार्य्य के समय असावधान, चुगुलखोर, नष्ट-बुद्धि, मत्सरी, अशुद्ध चित्तवाले, मित्रों से सदा असंतुष्ट रहने-वाले, सुरा पीनेवाले, शत्रुता करनेवाले, दयाशून्य, डाही, कृतघ्न, दोषान्वेषी, प्राणिहिंसा में रत पुरुष जन-समाज में अधम समझे जाते हैं, अतः ऐसे लोगों से कभी मित्रता न करे।

नीचे लिखे गुणों से युक्त पुरुषों के साथ अवश्य मित्रता करे—

१. सत्कुलोद्भव।	७. परिश्रमी।
२. मधुर-भाषी।	८. कृतज्ञ।
३. ज्ञान-विज्ञानवेत्ता।	९. सदा व्यायाम करनेवाले।
४. रूपवान्।	१०. वंशधर।
५. गुणवान्।	११. धुरंधर।
६. अलुब्ध।	१२. दोषरहित।

१३. जनसमाज में प्रसिद्ध ।

१४. शक्ति के अनुसार सदा-चार-परायण ।

१५. अकारण क्रोध न करने-वाले ।

१६. अर्थ-कोविद ।

१७. स्वयं कष्ट सहकर मित्र का काम करनेवाले ।

१८. क्रोध अथवा लोभ के वश-वर्ती होकर स्त्रियों को कष्ट न देनेवाले ।

१९. प्रसन्नचित्त ।

२०. विश्वासी ।

२१. धर्मात्मा ।

२२. सुवर्ण और ढेले को समान समझनेवाले ।

२३. दृढ़बुद्धि ।

२४. विभूषण-त्यागी ।

२५. जन साधारण की भलाई में तत्पर ।

२६. शास्त्र में रत ।

२७. पराक्रमी और

२८. शीलयुक्त ।

१६—लक्ष्मी की कृपा कैसे पुरुष और कैसी स्त्रियों पर होती है ?

युधिष्ठिर के उक्त प्रश्न के उत्तर में भीष्म ने रुक्मिणी-लक्ष्मी-संवाद सुनाकर कहा—

लक्ष्मी का निवास उन पुरुषों में होता है जो निरालसी, कार्यदक्ष, क्रोधविवर्जित, देवताओं की आराधना में निष्ठावान्, कृतज्ञ, जितेंद्रिय, उद्योगी, पराक्रमी और विचारशील होते हैं ।

किंतु जो लोग कार्य करने में असमर्थ हैं, नास्तिक हैं, वर्ण-संकर हैं, कृतघ्न हैं, भिन्न चरित्रवाले हैं, निष्ठुर वचन बोलते हैं, चोरी करते हैं और गुरु की निंदा करनेवाले हैं, उनके समीप लक्ष्मी कभी नहीं जाती ।

जो लोग अल्प पराक्रमी, अल्प बलवाले, अल्प बुद्धिवाले और अल्प मानयुक्त हैं, जो किसी विशिष्ट पुरुष को देखते ही क्रुद्ध और दुःखी होते हैं, जो एक विषय की चिंता करते करते विषयांतरों के विचार में लग जाते हैं उन लोगों के पास लक्ष्मी देवी कभी नहीं जातीं।

जो पुरुष अपनी उन्नति की किसी प्रकार भी चिंता नहीं करते, जिनका अंतरात्मा स्वभाव ही से उपहत हुआ है, उन अल्प संतोषी मनुष्यों के पास भली भाँति लक्ष्मीजी नहीं रहतीं।

स्वधर्म में निष्ठावाली धर्मज्ञा, वृद्धों की सेवा में लगी हुई, दांता, कृतात्मा, क्षमाशीला, सत्स्वभाव-संपन्ना, सरला, देव-ब्राह्मणों को पूजनेवाली स्त्रियों के पास लक्ष्मी सदा रहती हैं।

किंतु जिसके घर की सामग्री इधर उधर बिखरी रहती है, जो बिना विचारे काम करती है, जो सदा पति के विरुद्ध बोलती है, जो पराए घर में वास करने में अनुरक्त तथा लज्जा-हीना होती है, लक्ष्मी ऐसी स्त्रियों को छोड़ देती है।

पतिव्रता, कल्याणशीला, विभूषिता, सत्यवादिनी, प्रिय-दर्शना, सौभाग्ययुक्त और गुणमयी स्त्री पर कमला देवी सदा सुप्रसन्न रहती हैं।

दया-रहित, अपवित्रा और सदा शयन करनेवाली स्त्री की ओर भगवती लक्ष्मी देखती भी नहीं।

सब प्रकार के वाहन, कन्या, विभूषण, यज्ञस्थान, वृष्टियुक्त मेघ-मंडल, फूले हुए कमलदल, शरत्काल के नक्षत्र, गजयूथ,

गोसमूंह और कमलयुक्त सरोवर, सारांश यह कि समस्त रमणीक वस्तुओं में श्रीं जी का वास है।

हंस और सारस आदि पंक्षियों के कलरव से कूजित वृक्षों से शोभित, तपस्वी ब्राह्मणों सें निषेवित, अधिक जलयुक्त, सिंह तथा हाथियों से परिपूरित नदियों में लक्ष्मीजी सदा निवास करती हैं।

मतवाले हाथी, गौ, बैल, राजसिंहासन, सत्पुरुष, अग्नि-होत्र के स्थान भी लक्ष्मी के निवासस्थान हैं।

सदा स्वाध्याय में रत ब्राह्मण, सदा धर्म में तत्पर रहनेवाले क्षत्रिय, कृषि-कार्य में संलग्न वैश्य और नित्य सेवा करनेवाले शूद्र लक्ष्मीजी के कृपापात्र हैं।

श्रीमन्नारायण के निकट माता लक्ष्मी एकाग्रचित्त और मूर्त्तिमती होकर सादर सदा निवास करती हैं।

१७-मनुष्य के दीर्घायु, कीर्तिवान् और लक्ष्मीवान् होने के उपाय

युधिष्ठिर ने भीष्म से पूछा—

युधिष्ठिर—हे पितामह ! पुरुष शतायु तथा शतवीर्य होके जन्मता है, परंतु बहुत से लोग तो लड़कपन ही में मर जाते हैं, इसका कारण क्या है ? मनुष्य दीर्घजीवी क्योंकर हो सकता है ? किस प्रकार वह कीर्त्तिशाली होता है और किस प्रकार उस पर लक्ष्मी प्रसन्न होंती है ? दीर्घजीवी, कीर्ति-शाली और धनवान् होने के लिये जप, होम, औषध, तप, ब्रह्मचर्य में से किसका अनुष्ठान उपयोगी है ? युधिष्ठिर के

इन प्रश्नों के उत्तर में भीष्म ने कहा—"युधिष्ठिर ! आचार ही से मनुष्यों की आयु बढ़ती है, आचारवान् पुरुष ही लक्ष्मी का कृपाभाजन होता है और आचार ही से मनुष्य की इस लोक और परलोक में कीर्ति फैलती है।

दुराचारी मनुष्य इस लोक में दीर्घायु नहीं होते। क्योंकि यदि वे दीर्घजीवी हों तो प्राणीमात्र उनसे त्रस्त रहते हैं। अथवा दुराचारी वही है जो जीवों को त्रस्त करे। अतः जो पुरुष अपने कल्याण की इच्छा रखते हों, उन्हें सदाचारी होना चाहिए।

सदाचरण पापयुक्त शरीर को भी सुलक्षणयुक्त कर देता है। आचार, लक्षण, धर्म और चरित्र ही भले बुरे लोगों के पहचानने की कसौटी है। सत्कर्मी पुरुषों का नाम ही जन-समाज में सुखदायी होता है।

जो लोग नास्तिक हैं, जो लोग क्रियारहित हैं, जो लोग गुरु और शास्त्र की आज्ञा उल्लंघन करते हैं, जो लोग अधर्मी हैं वे ही गतायु होते हैं।

जो लोग दुःशील हैं, जो लोग मर्य्यादा तोड़नेवाले हैं,[१] वे इस लोक में अल्पायु होकर मरने पर नरकगामी होते हैं।

जो मनुष्य सब लक्षणों से रहित होकर भी सदाचारी हैं, जो श्रद्धावान् हैं और जो असूया-रहित हैं, वे एक सौ वर्ष तक जीवित रहते हैं।

---

(१) नियम-विरुद्ध चलनेवाले।

जो अक्रोधी, सत्यवादी, जीवों की हिंसा न करनेवाले, अनसूय और कपट-रहित हैं वे ही एक सौ वर्ष तक जीते हैं।

जो पुरुष ढेलों को फोड़ता, तिनका तोड़ता, नखवादी, उच्छिष्टभोजी और सदा अस्थिर चित्तवाला होता है, वह इस लोक में अधिक दिनों नहीं रहने पाता।

ब्राह्म मुहूर्त्त में सावधान हो और उस समय धर्म और अर्थ का विचार करे। फिर उठकर आचमन करे और हाथ जोड़कर पूर्व संध्या की उपासना करे।

उदय होते और अस्त होते हुए सूर्य का दर्शन न करे, राहुग्रस्त, जल के बीच और मध्याकाश में स्थित सूर्य को भी न देखे।

ऋषि लोग सदा संध्या-वंदन करते हैं, इसी से वे दीर्घायु होते हैं। अतः प्रातः सायं अवश्य संध्योपासन करे।

जो ब्राह्मण प्रातः सायं संध्या नहीं करते, धार्मिक राजा उनसे शूद्रों का कार्य्य करावे।

सद्वर्णों के बीच में पराई स्त्री का जाना कदापि उचित नहीं।

पुरुष के लिये जैसा परस्त्री-गमन आयु का नाश करनेवाला है, इस लोक में उससे बढ़कर आयु घटानेवाला कर्म नहीं है।

स्त्रियों के शरीर में जितने ही रोम हैं, परस्त्रीगामी पुरुष उतने ही सहस्र वर्षों तक नरक में निवास करता है।

केश सँभालना, अंजन लगाना, दाँत धोना और देवताओं का पूजन पूर्वाह्न ही में करना चाहिए।

मल-मूत्र को न देखना चाहिए और जहाँ मल-मूत्र हो वहाँ रहना भी न चाहिए ।

बड़े सबेरे, दोपहर और संध्या के समय मलमूत्र परित्याग न करे, अनचीन्हे पुरुष के साथ न जाय, अकेले अथवा चाण्डाल के साथ मार्ग पर जाना उचित नहीं है ।

दूसरे का पहना हुआ वस्त्र और खड़ाऊँ न पहने, पाँव से पाँव को न रगड़े ।

ब्राह्मण, गऊ, राजा, वृद्ध, बोझा ढोनेवाला, गर्भिणी स्त्री, और निर्बल पुरुष को देखकर, उन्हें जाने का मार्ग दे ।

आधी रात को, संध्या समय और प्रातःकाल चौराहे पर न जाय ।